शिवानन्दलहरी-प्रवचन

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
वाराणसी

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी. ४९/९, मिश्रपोखरा
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ
वाराणसी-२२१०१०

❒

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

❒

प्रथम संस्करण : संवत् : २०६७
सन् : २०१०
शंकराब्द : १२२२

स्वर्गीय श्री कमल किशोर ओझा
की स्मृति में
श्री नन्दकिशोर ओझा, श्रीमती शकुंतला ओझा
एवं
ओझा परिवार, जोधपुर द्वारा धर्मार्थ वितरित

– मुद्रक –
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी
फोन नं. : 0542-2201104, 3257329
ई-मेल : shrijeeprint@gmail.com
shrijeeprint@sify.com

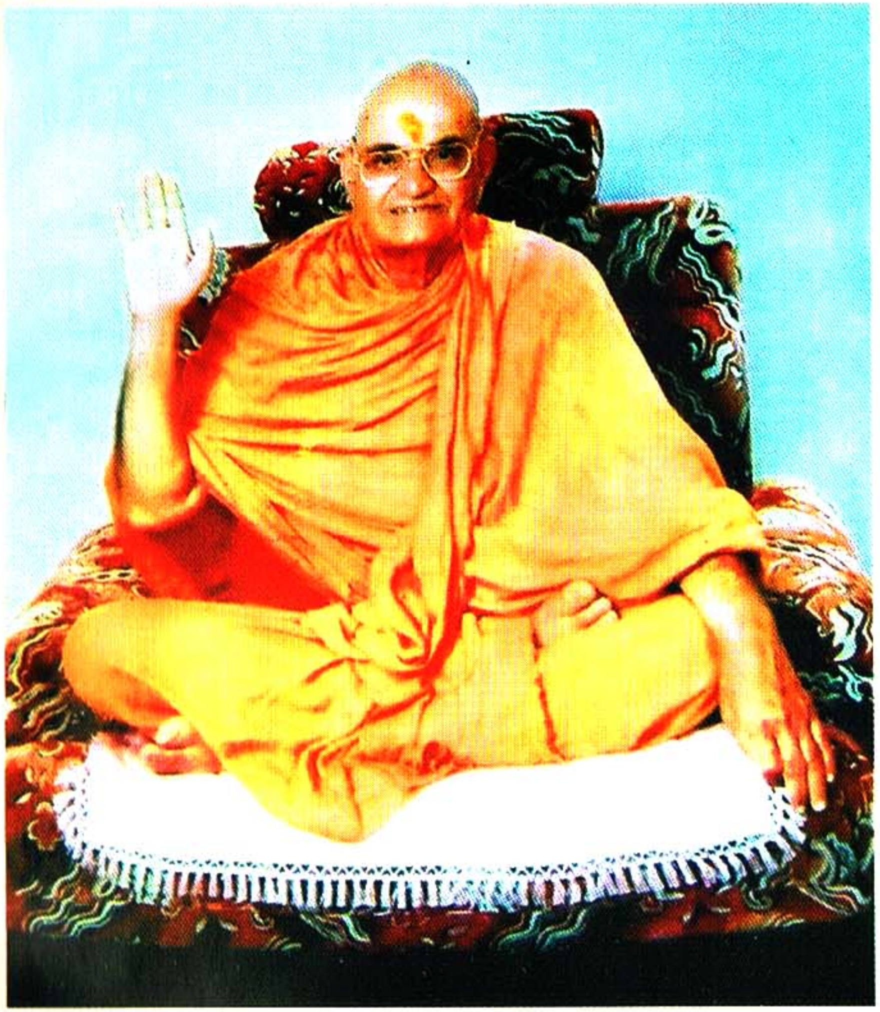

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय
ब्रह्मनिष्ठ निरंजन पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

॥ॐ॥

प्रकाशकीय

वेदान्त-सम्प्रदाय में परमेश्वर-भक्ति मोक्षोपयोगी अनिवार्य साधन स्वीकृत है। वर्त्तमान युग में श्रौत-स्मार्त कर्म-उपासनायें विविध कारणों से अतिदुष्कर हैं। अतः कल्याण के लिये भक्ति का ही अवलम्ब उपलब्ध रह गया है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने अपनी सभी रचनाओं में यथाप्रसंग भक्ति के स्वरूप और प्रकार का उल्लेख किया है तथा उनके अनुयायी सब आचार्यों ने इस पर पर्याप्त चिन्तन किया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती, अप्पय दीक्षित, नारायण तीर्थ, गौडब्रह्मानन्द आदि ने भक्ति के विषय में अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व प्रकाशित किये हैं। आचार्य शंकर की प्रौढतम रससिद्ध लेखनी से असंख्य स्तोत्र प्रकट हुए। विश्व में किसी भी सम्प्रदाय के पास उपलब्ध स्तोत्रों में सर्वाधिक और सर्वोत्कृष्ट स्तोत्र शांकर सम्प्रदाय में ही हैं यह सर्वसम्मत प्रत्यक्ष है।

'शिवानन्दलहरी' आचार्य की अप्रतिम कृति है जिसमें भक्ति-सम्बन्धी सांगोपांग विचार एकत्र प्रकट हैं। स्तोत्र-अक्षरार्थ काफी स्पष्ट हैं तथापि उनमें निहित अभिप्राय सुबोध तभी बन पाते हैं जब ब्रह्मनिष्ठ उन्हें व्यक्त करें। आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज अपने प्रवचनों में बहुधा शिवानन्दलहरी के श्लोकों पर चिन्तन करते थे जिनमें अनेक तत्र-तत्र मुद्रित हैं किन्तु लगभग दस वर्ष पूर्व श्रीविश्वनाथ संन्यास आश्रम, दिल्ली

में उन्होंने प्रारम्भिक सत्रह श्लोकों की निरन्तर व्याख्या की थी जो पट्टलेखों में संगृहीत थी। उसे सी.डी. के रूप में गत वर्ष उपलब्ध कराया गया था। जोधपुर के पण्डित श्री नन्दकिशोर ने श्रद्धापूर्वक सुन-सुनकर वह व्याख्या लिपिबद्ध की, जो अब प्रकाशित की जा रही है। इसके अनुसन्धान से सभी साधक श्रेयोमार्ग पर प्रगति की प्रेरणा पायें यह भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति से प्रार्थना है।

●

।।ॐ।।

शिवानन्दलहरी-प्रवचन

(१)

मोक्ष का साक्षात् साधन श्रवण ही है। जब तक प्रमाणगत संशय निवृत्त नहीं हो जाता तब तक उत्पन्न हुई प्रमा भी अपने फल को पैदा नहीं कर पाती। प्रमा का मतलब होता है जो चीज़ जैसी है उसको वैसा जानना। जो चीज़ जैसी नहीं है उसको वैसा जानना भ्रम कहा जाता है और जो चीज़ जैसी है उसको वैसा जानना प्रमा कहा जाता है। दोनों ही जगह जानना तो है, परन्तु एक जगह जैसी चीज़ है वैसा ज्ञान है, और दूसरी जगह चीज कुछ है ज्ञान कुछ और है। सामने रस्सी है, उसको तुमने रस्सी जाना तब उसको प्रमा कहते हैं और सामने रस्सी है, उसको तुमने साँप समझा तब उसको भ्रम कहते हैं। प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान किससे पैदा होता है? प्रमाण से पैदा होता है। प्रमाण अर्थात् जो प्रमा को पैदा करे। परमात्मा चूँकि रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श से रहित है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण जो हमारे पास ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उसके द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता। आँख से जो दीखेगा वह कभी परमात्मा नहीं हो सकता, हाथ से जिसको छुआ जायेगा वह कभी परमात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि **"अस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्धवत्"** स्पष्ट श्रुति ने कह दिया है; उसके रूप, रस, गंध शब्द स्पर्श नहीं हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा परमात्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। क्या नहीं हो सकता?

यथार्थ ज्ञान। पर क्या हो सकता है? भ्रम ज्ञान हो सकता है अर्थात् परमात्मा को परमात्मा न समझ करके कुछ और तुम समझ सकते हो। इन्द्रियों के द्वारा जिसका ज्ञान होगा वह परमात्मा के बारे में तो भ्रम ज्ञान ही होगा। परमात्मा का भ्रम ज्ञान भ्रम के व्यवहारों को चलाने के लिए पर्याप्त है, काफी है। ऐसे समझ लो : रूपा-शब्द का मतलब होता है चाँदी। रूपा अर्थात् चाँदी। एक कागज का टुकड़ा है, उसमें चाँदी का लवलेश भी नहीं है; उन कागज के टुकड़ों को तुम कहते हो 'ये सौ रूपये हैं, ये पाँच सौ रूपये हैं', जब तुम कागज के टुकड़े को सौ रूपये कहते हो तब वह प्रमाज्ञान है कि भ्रमज्ञान है? भ्रमज्ञान है वह क्योंकि रूपया है नहीं। परन्तु व्यवहार के अन्दर वह रूपये का काम दे जायेगा। व्यवहार में काम दे जायेगा इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि वह सच्चा रूपा है। वास्तव में तो वह रूपा नहीं है, काम चाहे दे जाये। यह इसलिए कहते हैं कि कई बार लोगों के मन में यह रहता है कि जो चीज काम दे जाये वह सच्ची होती है। बौद्धों ने तो सत्य का लक्षण ही कर लिया है 'कार्यकारिता'; जो चीज काम में आ सके उसे सच मान लो। पर वेदान्त में वह सत्य है जिसका तीनों कालों में बाध नहीं हो सकता और सच्चा ज्ञान वह है जिसका वही आकार है जो उसके विषय का आकार है। जैसी चीज हो वैसा ही ज्ञान हो तो यथार्थ ज्ञान है। परमात्मा है पर परमात्मा की जगह हमें दुनिया भर की चीजें दीख रही हैं। चीजों से काम भी चल रहा है, परन्तु फिर भी वे परमात्मा नहीं हैं। अब प्रमाण से जो ज्ञान होगा वह कभी भी झूठा सिद्ध हो सकता नहीं। झूठा है या नहीं—इसका पता इसीसे लगेगा कि क्या यह कभी भी झूठा सिद्ध हो सकता है? यदि हमारी आँख ठीक है, रोशनी ठीक है, चीज ज्यादा दूर भी नहीं है, बहुत ज्यादा नजदीक भी नहीं हैं, इन सब दोषों से रहित सामग्री है, तब हमें सामने रखी हुई चीज का जो ज्ञान होगा वह प्रमा होगी, वह झूठा सिद्ध नहीं होगा। यदि हमारी आँख

में मोतिया उतरा हुआ है तो हमें दो चीजें दिखेंगी, चार दिखेंगी, परन्तु हमें पता है हमें मोतीया है इसलिए दो चीजें दीख सकती हैं, अतः दो या चार दीखने पर भी हमें संशय रहता है, भ्रम नहीं होता कि चार ही हैं। कई बार घूमने जाते हैं तो सामने से दो आदमी आ रहे होते हैं। तब तक मन में संदेह होता है कि दोनों के सूट भी एक जैसे हैं दोनों की लम्बाई मोटाई सब एक जैसी है तो कहीं भ्रम तो नहीं है? एक आँख बंद करके देखते हैं। जब एक आँख बंद करके देखते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि 'अरे! एक ही आदमी है'। यदि आँख में दोष है तब भी मन में यह रहता है कि भ्रम हो सकता है, यदि चीज बहुत दूर है तो भी भ्रम की संभावना रहती है। भ्रम ही होता है—यह नहीं कह रहे हैं, निश्चय नहीं हो पाता कि ऐसा ही है। हम देखेंगे की आँख, दूरी, प्रकाश आदि सब ठीक है कि नहीं और सब ठीक हैं तो निश्चय करेंगे की जैसी चीज है वैसा हमको ज्ञान हुआ। अगर इनमें किसी में गड़बड़ी है और अभी विषय झूठा सिद्ध नहीं हुआ है तो हमें संशय रहेगा, 'ये ऐसा ही है' यह निश्चय नहीं हो पायेगा। परमेश्वर में प्रत्यक्ष तो प्रमाण है नहीं। प्रत्यक्ष के बिना, प्रत्यक्ष पर आधारित अनुमान भी होगा नहीं। अतः परमेश्वर के ज्ञान के लिए एकमात्र शब्द प्रमाण है। शब्द से ही परमेश्वर का पता लग सकता है, और कोई प्रकार है नहीं। शब्द के उच्चारण से ज्ञान तो हो जायेगा परन्तु यह निश्चय कैसे हो की यह ज्ञान प्रमा है कि भ्रम है? यह तभी हो सकता है जब हम पहले उस शब्द के विषय में निश्चय कर लें। जैसे प्रत्यक्ष में आँखगत दोष होते हैं वैसे ही यहाँ शब्द में होने वाले दोषों को शास्त्र में बताया है। हमें देखना पड़ेगा कि शब्द उन दोषों से रहित है या नहीं। जब तक प्रमाणगत संशय निवृत्त नहीं हो जायेगा तब तक शब्द से हुए ज्ञान के विषय में हमें निश्चय नहीं होगा।

किसी भी चीज का जब तुम निश्चय करने जाते हो तब अपने मन को उसी में लगाना पड़ता है। हीरे को देखते हो तो उस समय बिलकुल हीरे के ऊपर ही नजर टिकाते हो। कई लोग एक काँच रखते हैं 'मोनोकल' उसको आँख में लगाके फिर उस हीरे को देखते हैं ताकि इधर-उधर की कोई चीज नहीं दीखे। साधारण आदमी भी समय होता है तो हाथ ऐसा रखकर ध्यान से देखता है। इसी प्रकार से शब्द के बारे में जब हम विचार करना चाहेंगे तब हमें अपनी बुद्धि को एकाग्र करना पड़ेगा, तभी हम निश्चय कर पायेंगे कि जो ज्ञान हमें हो रहा है वह प्रमा है कि भ्रम है। इस एकाग्रता को करने के दो साधन हैं—एक है शरीर से कर्म और दूसरा है मन से कर्म। शरीर से कर्म करने में भी चित्त एकाग्र होता है; दाल का हलवा बना रहे हो, पकने को तैयार है, चूल्हे पर दस सेकेंड ज्यादा रह जायेगा तो जल जायेगा, दस सेकेंड कम रहेगा तो उसमें ठीक बादामी रंग आयेगा नहीं; उस समय तुम्हारा चित्त सर्वथा उसके ऊपर एकाग्र होता है। जोधपुर में एक व्यक्ति थे जो दाल का हलवा बहुत बढ़िया बनाते थे। एक बार वहाँ पर पाँच हजार ब्राह्मणों का भोजन था और वे हलवा बना रहे थे। जब कड़ाही के अंदर हलवा बिलकुल तैयार हुआ और उतारने का समय हुआ तब उन्होंने इधर-उधर देखा, कड़ाही पकड़ने के लिये कोई कपड़ा वहाँ था नहीं, तो जो गमछा वे पहने थे, झट से उन्होंने उसे खोला और कड़ाही को उतार लिया! पुनः अपना गमछा पहन लिया। कई लोग देख रहे थे, उनसे कहने लगे 'तुम कैसे बेशरम आदमी हो?' उन्होंने कहा 'अरे पाँच हजार आदमियों का भोजन बिगाड़ता! दुनिया में सभी नंगे होते हैं इसमें कौन-सी बड़ी बात है?' बिलकुल एकाग्र हो तभी ऐसा हो सकता है। अगर मन में यह आ जाये कि 'कोई कहीं देख तो नहीं रहा है?' तो फिर नहीं उतार पाओगे और हलवा खराब हो जायेगा।

इसी प्रकार शास्त्रीय कर्मों में चित्त एकाग्र करना पड़ता है। एक बड़े अच्छे विद्वान् थे शिवदत्त जी, बड़े भारी नैयायिक भी थे और कर्मकाण्डी भी थे। वे एक बार बतला रहे थे कि यज्ञों को करने की व्यावहारिक शिक्षा भी देनी पड़ती है। यज्ञ करने के लिए समय भी निश्चित होता है कि यह अंग इतने समय में कर लेना है। सारा यज्ञ ही नहीं, उसके हर टुकड़े का समय निश्चित है। कहते थे 'हम लोगों ने कई महीनों तक अभ्यास किया लेकिन कितना ही प्रयत्न करें, कहीं-न-कहीं समय में त्रुटि हो जाती थी।' नियम यह है कि उतने समय में नहीं हुआ तो प्रायश्चित्त करना पड़ता है। चाहे जितना प्रयत्न करें, बिना प्रायश्चित्त के कभी कर्म समाप्त होता नहीं था। जब कई महीनों का अभ्यास करके देख लिया तब गुरुजी के पास गये और कहने लगे 'गुरुजी, यह सब अपनी किताबों में ही लिखा है कि कोई आदमी ऐसा कर भी सकता है?' गुरुजी हँस पड़े और कहने लगे 'जब तुम्हारा चित्त सर्वथा एकाग्र हो जायेगा तभी यह हो सकेगा। यह शरीर के साथ मन की भी शिक्षण-प्रणाली है। तुम्हारा मन जब तक थोड़ा भी इधर-उधर जायेगा तब तक प्रायश्चित्त करना पड़ जायेगा।' जो लोग कर्म को नहीं जानते वे समझते हैं कि कर्म से केवल शरीर की ही शिक्षा होती है, पर हमारे जो शास्त्रीय कर्म हैं वे शरीर के साथ मन को भी बिलकुल एकाग्र करने की शिक्षा देते हैं। कर्म से भी चित्त एकाग्र होता है और उपासना से भी चित्त एकाग्र होता है।

परमात्मा में चित्त एकाग्र करने के लिए यज्ञ का ही दूसरा रूप है पूजा और उसी के अंदर मन की शिक्षा के लिए है ध्यान। जब तुम कोई पूजा शुरू करते हो तब सबसे पहले संकल्पादि कर लिया, फिर 'अथ ध्यानम्' जिस देवता की पूजा करते हो उसका ध्यान करते हो। पंडित जी को पता रहता है कि यजमान से ध्यान तो होना नहीं है, अतः वे ध्यान—मंत्र बोलते

हैं और फिर कहते हैं 'ध्यानार्थं पुष्पं समर्पयामि' ध्यान के लिए मैं फूल चढ़ा रहा हूँ! ध्यान का काम फूल चढ़ाने से हो ऐसी कोई बात तो है नहीं, परन्तु तुम ध्यान कर नहीं सकते तो किया क्या जाये? मन को एकाग्र करने का दूसरा प्रकार है परमेश्वर के चरित्रों के विषय में बार-बार सोचना। चरित्र के बारे में सोचने से चित्त एकाग्र होता है। कई बार बच्चा बड़े मनोयोग से कोई किताब पढ़ रहा हो, उसे कहो 'अरे! भोजन का समय हो गया, रोटी खा लो' कहता है 'आज भूख नहीं है जी, आज मुझे पढ़ना है।' सोचते हो कि बड़ी मेहनत कर रहा है, पास जाकर देखो तो वह कोई जासूसी उपन्यास पढ़ रहा होता है! जासूसी उपन्यास में कोई खून करके भाग गया, आगे उसका क्या हुआ—यह बिना जाने भोजन भी अच्छा नहीं लगता है। पढ़ते-पढ़ते रात में ग्यारह बजा देगा, बारह बजा देगा। चित्त एकाग्र है, जानना चाह रहा है खूनी का क्या हुआ। वहाँ खूनी नाम की कोई चीज है क्या जिसके बारे में वह सोच रहा है कि उसका क्या हुआ? कोई खूनी आदमी है क्या? कोई नहीं। लेकिन उस कल्पित चरित्र के कारण भी चित्त एकाग्र हो जाता है। अगर घटना-क्रम का वर्णन न हो तो कभी बच्चे का मन उसमें एकाग्र नहीं होगा। पहले ही कहो 'एक कल्पित देवदत्त है', तो मन एकाग्र नहीं होगा। इसी प्रकार से परमेश्वर के चरित्रों का जब मनुष्य अपने मन में वृत्ति-प्रवाह बनाता है तब उसमें भी मन एकाग्र होता है। जैसे उपन्यास में लिखा हुआ चरित्र वस्तुतः है ऐसी बात तो है नहीं, ठीक इसी प्रकार से परमेश्वर का कोई चरित्र हो ही नहीं सकता। उपनिषद् स्पष्ट कहती है "**प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवं अद्वैतम्**" सारा प्रपंच तो उसके अंदर उपशांत है, प्रपंच का वहाँ नाम-निशान नहीं हो सकता। चरित्र प्रपंच में होगा। परमेश्वर स्वरूप से ही सर्वथा निष्क्रिय है, सर्वथा शान्त है, अद्वैत है। जब ,प्रपंच वहाँ नहीं, क्रिया नहीं, तो चरित्र कहाँ से आ सकता है? परन्तु उस कल्पित चरित्र के द्वारा तुम्हारा मन परमेश्वर में एकाग्र होता है।

मन को एकाग्र करने के लिए कर्म भी एक उपाय है और मन से जो कर्म किया जाता है वह उपासना भी एक उपाय है। प्रपञ्चोपशम शान्त जो शिव है उसका यथार्थ ज्ञान कराने के लिए, ब्रह्मसूत्रभाष्य इत्यादि का प्रणयन किया। परमात्मा की प्रमा तो उससे होनी है। परमात्मा जैसा है उसका यथार्थ ज्ञान श्रवण से होना है और वह ज्ञान मोक्ष का कारण है। परन्तु प्रमाणगत संशय निवृत्त होवे इसके लिए विचार करने की तुम्हारी बुद्धि में योग्यता आने के लिए एकाग्रता जरूरी है। परमेश्वर के अन्दर चित्त एकाग्र करने के लिए उसमें प्रपंच की कल्पना करनी पड़ती है जैसे व्यवहार को चलाने के लिए कागज को रूपया मानना पड़ता है। इस प्रकार के आरोपों का वर्णन आचार्यों ने स्तोत्र ग्रंथों में किया है।

ऐसे ही एक स्तोत्र का नाम उन्होंने रखा 'शिवानन्दलहरी'। खुद ही इसका नामकरण दूसरे श्लोक में करेंगे 'हृदभुवि शिवानन्दलहरी' कहकर। लहर कोई वास्तविक चीज नहीं होती है। 'लहरीबुद्‌बुदादीनां सलिलाद् न पृथक् स्थितिः' लहर, बुलबुला, झाग—ये कुछ भी पानी से भिन्न नहीं हैं, लेकिन पानी से भिन्न दीखते हैं। झाग है, लहर है, बुलबुला है, ऐसे दीखते हैं, हैं पानी ही। इस प्रकार, यह शिव है तो आनन्दस्वरूप, आनन्द से अतिरिक्त और कुछ नहीं है, परन्तु इन लीलाओं के अन्दर जो तुम देखोगे वह उस आनन्द की लहरी है। प्रमा तो उसकी यह होगी कि वह है आनन्दरूप, परन्तु व्यवहार-सिद्धि के लिए आनन्द की लहरी चाहिये। शिवस्वरूप जो आनन्द है उसकी लहरी है 'शिवानन्दलहरी'। इसके अन्दर आचार्य शंकर ने चित्त एकाग्र करने के, भक्ति के, अनेक भिन्न-भिन्न उपायों को सौ श्लोकों के द्वारा प्रकट किया है।

सबसे पहले शिवानंदलहरी के अंदर जो शिव-शब्द है उसको स्पष्ट करना चाहते हैं कि जो व प्रपंचोपशम शान्त शिव

है उसमें तो लहर की भी कल्पना संभव नहीं है, इसलिए लहर की कल्पना करने के लिए शिव को शक्ति की जरूरत है, माया की जरूरत है, अज्ञान की जरूरत है, अविद्या की जरूरत है। बिना अविद्या के, बिना माया के, शान्त को तुम क्रियाशील कैसे देख सकते हो? इसलिए शिवानंदलहरी में शिवस्वरूप आनन्द की लहरी है और शिवास्वरूप आनन्द की लहरी उठाने वाली है, क्योंकि शिवा होगी तभी आनन्द की लहरी उठेगी जिस प्रकार से समुद्र के वक्षः स्थल पर जब तक हवा नहीं चलेगी तब तक लहर नहीं उठेगी। इसलिए उपनिषद् कहती है '**मय्यखण्ड-सुखाम्बोधौ बहुधा विश्ववीचयः, उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमाः**' मैं तो अखण्ड सुख का समुद्र हूँ, मेरे वास्तविक स्वरूप के अन्दर सिवाय आनन्द के और कोई चीज है ही नहीं। परन्तु ऐसे मुझ आनंद समुद्र के अन्दर विश्वरूप लहरें हैं। और यह एक विश्व नहीं, अनन्त कोटि इस प्रकार के विश्व मुझ आनन्द समुद्र में प्रकट होते हैं। उस अखण्ड आनन्द के अन्दर कैसे उत्पन्न होते हैं? माया की जो मारुत अर्थात् वायु चलती है उससे ये विश्वरूप लहरें उत्पन्न होती हैं और लीन होती हैं। यहाँ विभ्रम-शब्द द्व्यर्थक है, दो बातों को कहता है: भ्रम का मतलब चलना भी होता है। हिन्दी में भी 'भ्रमण' कहते हो तो उसका मतलब चलना है। और भ्रम का मतलब है जो चीज जैसी है उसको वैसा न जानना। माया की मारुत से यह जो उत्पन्न होना और विलीन होना दीख रहा है वह भ्रम है। शिव के आनन्द की लहरी उठाने वाली शिवा है। शिवा होगी, माया होगी तब ही आनन्द की लहर उठेगी, अन्यथा वह आनन्दस्वरूप तो है ही। शिवानन्दलहरी में शिव और शिवा दोनों को कहा जा रहा है। संस्कृत के व्याकरण में शिव के आगे आनन्द आयेगा तब भी शिवानंद बनेगा और शिवा के आगे आनन्द आयेगा तब भी शिवानंद बनेगा। अतः ग्रंथ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण शिव और शिवा दोनों का करते हैं—

कलाभ्यां चूडालंकृतशशिकलाभ्यां निजतपः-
फलाभ्यां भक्तेषु प्रकटितफलाभ्यां भवतु मे।
शिवाभ्यामस्तोक-त्रिभुवनशिवाभ्यां हृदि पुन-
र्भवाभ्यामानन्दस्फुरदनुभवाभ्यां नतिरियम् ।।१।।

भक्तों के विषय में भक्तवात्सल्यरूप स्पष्ट है फल जिनका अर्थात् भक्तों की कामनाओं को जो सद्यः सफल बना देते हैं; निजकी तपस्या के फल के समान शेखर में चंद्रकला विराजमान है; स्वयं जो कलाओं से सम्पन्न हैं; स्वयं कल्याणस्वरूप, समस्त संसार के कल्याणकारक; पुनः हृदय में जो आनन्द व अनुभव के रूप में स्फुरित होते रहते हैं; ऐसे जगज्जननी माता पार्वती व जगत्-पिता परमेश्वर शिव के लिये मेरा यह प्रणाम है।

'शिवाभ्यां' में द्विवचन है, शिव और शिवा दोनों के प्रति हम नमस्कार करते हैं। हम लोगों की प्राचीन परम्परा हमेशा से रही है कि कार्य के आरंभ में, कार्य के मध्य में और कार्य की समाप्ति में मङ्गल का आचरण करना चाहिये। अगर ग्रंथ प्रारम्भ करते हो तो पहले मङ्गलाचरण करो, बीच में भी मङ्गलाचरण करो और अंत मे भी मङ्गलाचरण करो। जीवन के हर व्यवहार में याद रखना चाहिये कि कोई भी कार्य प्रारम्भ करो तो मङ्गलाचरण करो। पहले चिट्ठी भी लिखते थे तो सबसे ऊपर 'श्रीगणेशाय नमः' लिखते थे। खाता लिखने में सबसे पहले 'लक्ष्मी जी सदा सहाय' लिखकर फिर खाता लिखना शुरू करते थे। किसी भी चीज को प्रारम्भ करने से पहले मङ्गलाचरण करना हम लोगों की हमेशा से परम्परा रही है। वर्तमान काल में चिट्ठियों में भी कहीं कोई 'श्रीगणेशाय नमः' इत्यादि देखने में नहीं आता और कहीं किसी कार्य की समाप्ति में भी परमेश्वर का उल्लेख नहीं आता। जब शुरू और अंत में ही नहीं है तो बीच में कहाँ भगवान् को स्मरण करने का समय मिलता होगा! वर्तमान काल

में तो भगवान् का स्मरण तब होता है जब कोई विपत्ति आती है। इतना इसका संस्कार दृढ़ हो गया है कि कई बार हम लोग जब रेल में जा रहे होते हैं तो दूसरे सहयात्रियों का प्रायः प्रश्न यही होता है कि 'किस कष्ट के कारण आप भगवान् के रास्ते में गये?' क्योंकि सब को यह जँचा हुआ है कि कोई कष्ट आयेगा तब कोई भगवान् की तरफ जायेगा, नहीं तो काहे को भगवान् की तरफ जायेगा! सुख के अन्दर परमेश्वर का स्मरण होता है यह वर्तमान काल में लोग भूल ही चुके हैं। यह समझते नहीं की जब सुख की अतिशयता होती है, जब सुख अत्यधिक होता है, तब मनुष्य सोचता है कि इस सुख का स्रोत क्या है, उस स्रोत को ढूँढा जाये। तब तो होती है परमात्मा के लिए प्रवृत्ति, अन्यथा परमात्मा के लिए नहीं, दुःख को हटाने के लिए प्रवृत्ति होती है, दुःख को हटाने के लिए परमात्मा को भजते हैं। ऐसे जीवन में जैसे ही दुःख दूर हो जाता है वैसे ही परमात्मा का भजन भी ढीला पड़ते-पड़ते अंत में खत्म हो जाता है। परन्तु सुख की पूर्णता के अन्दर जब सुख के स्रोत को ढूँढ़ने के लिए प्रवृत्ति होती है तब वह कभी हट सकती नहीं। हर कार्य के आरम्भ में हम मङ्गलाचरण भूल गये, केवल दुःख को ही हम मङ्गलाचरण का समय समझते हैं।

शिव और शिवा, दोनों का रूप कैसा है? दोनों ही अपने सिर के ऊपर चन्द्रमा की कला वाले हैं, दोनों ही सारी कलाओं के स्वरूप हैं। एक-दूसरे के तपों के फलस्वरूप हैं। शिव के तप का फल शिवा है, शिवा के तप का फल शिव है। भक्तों को दोनों ही फलों का प्राकट्य करते हैं। दो प्रकार की कलाएँ होती हैं—लास्य भी और ताण्डव भी। अंग्रेजी में इसी को कॉमेडी और ट्रेजडी नाम से कहते हैं। कॉमेडी के अन्दर लास्य होगा, ट्रेजेडी के अन्दर ताण्डव होगा, आघात होगा। दोनों मिल कर ही कला पूर्ण होती है। सारी सृष्टि कला है। देवता और असुर दोनों होंगे

तब ही इस सृष्टिचक्र के अन्दर प्रवाह बनेगा। न केवल देवताओं से काम चलता है, न केवल असुरों से काम चलता है। असुर ताण्डव लीला करेंगे, देवता लास्य लीला करेंगे। इस प्रकार से सभी कलाओं के अन्दर ये दो तत्त्व होते हैं। पार्वती लास्य की अधिष्ठात्री हैं, और शिव ताण्डव के अधिष्ठाता हैं। लोक में भी देखा जाता है की माँ हमेशा बच्चे को आराम से रखने पर जोर देती है और पिता हमेशा बच्चे को प्रौढ़ बनाना चाहता है, इसलिए घर में पिता हमेशा कहेगा 'इसने गलती की तो इसको दण्ड दिया जाये', माँ कहेगी 'सुधर जायेगा, भूल से कर लिया होगा।' माँ का स्वभाव हमेशा लास्यप्रधान होता है और पिता के स्वभाव में दण्ड का पुट होता है, आघात का पुट होता है, तांडव का पुट होता है। इसी प्रकार यहाँ पर भी भगवती शिवा को लास्य-प्रधान कहा और भगवान् शंकर को ताण्डवप्रधान कहा। इन दोनों कलाओं के ये अधिष्ठाता हैं।

परन्तु कला के अन्दर दो गुण हम लोग आवश्यक मानते हैं। यदि भगवती के अष्टोत्तर शतनामों को देखोगे तो 'क' का अर्थ वहाँ किया है ककाररूपा, कल्याणी। क-रूप किसका है? कल्याणी, कल्याण करने वाली का। और 'ल' का अर्थ किया है लावण्यमयी, सौन्दर्यमयी अर्थात् सुन्दरता। क-ला के अन्दर ये दोनों चीजें होनी चाहिये—कल्याण बताने वाली कला होगी परन्तु बताएगी सुन्दर प्रकार से। अतः अत्यन्त हितकारी भी औषधियों की, फार्माकोपीया की किताब को कोई कला नहीं कहेगा। अतः चिकित्सकों को शिक्षा दी जाती है तो उनसे कहा जाता है कि चिकित्सा के अंदर विज्ञान और कला दोनों मिलानी पड़ती हैं। बहुत से चिकित्सक होते हैं, विज्ञान उनके पास पूरा है, परन्तु यदि कोई अच्छा स्वस्थ आदमी भी उनसे पाँच मिनट बात करे तो बीमार हो जायेगा! उनके अन्दर विज्ञान की कमी नहीं है, परन्तु कला का अभाव है। कुछ चिकित्सक होते हैं जो तुम अगर

रोगी हो और वे तुम्हारे पास आएँ तो जब तक वे रहेंगे तब तक तुम हलका अनुभव करोगे, कुछ-न-कुछ तुमको हँसाकर वे जायेंगे। हो सकता है उनके पास विज्ञान उतना अच्छा नहीं है पर चिकित्सा की कला है। जो अच्छा चिकित्सक होगा उसके अंदर ये दोनों गुण होने चाहिये। विज्ञान भी हो और कला भी। विज्ञान के द्वारा वह कल्याण करेगा और कला से तुम्हें प्रसन्न करेगा। कोई अत्यन्त सुन्दर रचना भी हो, परन्तु सर्वथा काल्पनिक और निष्प्रयोजन हो, केवल तुम्हारे मन को थोड़ा गुदगुदा कर छोड़ दे, तो उसमें लावण्य तो है, लिखा तो बहुत अच्छा है, परन्तु वह कल्याणकारी नहीं है इसलिए उसे भी हम लोग कला नहीं कहेंगे। जो तुम्हारे कल्याण के लिए कहा जाये और सुन्दर ढंग से कहा जाये, उसी को कला कहेंगे। सृष्टि की कला भी ऐसी ही है। यह तुम्हारे कल्याण के लिए है। तुम्हारे सारे दुःखों की जड़ है अज्ञान। वह अज्ञान किस प्रकार से दूर हो—बस यही सारी सृष्टि का प्रयोजन है।

छोटे-छोटे अज्ञानों को तुम छोटे-छोटे ज्ञानों से पूरा करते हो परन्तु छोटे ज्ञानों को जोड़कर बड़े ज्ञान का काम नहीं होता। कई बार लोग कहते हैं 'महाराज, विज्ञान पता लगाते-लगाते परमात्मा का भी पता लगा लेगा' पर कभी नहीं लगा सकता। क्यों नहीं लगा सकता? विज्ञान हमेशा छोटे-छोटे ज्ञानों का ही जोड़ हो सकता है। इसीलिए तो उसको विज्ञान-शब्द से कहते हैं, ज्ञान-शब्द से नहीं कहते। कहीं-कहीं छोटी चीजों को जोड़कर काम हो जाता है पर सब जगह नहीं। एक आदमी ने बिना पढ़े-लिखे को नौकर रख लिया। एक बार उसने उसको सौ रुपये का चैक दिया और कहा 'बैंक से एक सौ रुपये ले आओ।' बात पुरानी है। वह बैंक में गया, और कहा 'हमको सौ रुपये का नोट दो इसके बदले में।' बैंक वाले ने कहा 'सौ रुपये का नोट तो आज नहीं है, तुम दस-दस रुपये के दस ले लो।' उसने

कहा 'नहीं जी हम तो सौ रुपये का ही लेंगे।' बैंक वाले ने कहा 'फिर तो आज अभी नहीं दे सकते।' वापस आ गया। मालिक से कहा 'उसके पास नहीं हैं' उसने कहा 'कैसे हो सकता है कि नहीं है। क्या कहा उसने?' 'वह कहता है कि सौ का नोट नहीं है दस-दस के ले जाओ।' मालिक ने कहा 'एक ही बात है, दस-दस के ले आता।' उसने कहा 'ठीक है।' समय हो गया। उस आदमी की लड़की थी, उसके ब्याह की बात चल रही थी। बड़ी हो गयी थी, वर नहीं मिल रहा था तो बात हो रही थी। नौकर ने पूछा 'कितना बड़ा लड़का चाहिये?' मालिक ने कहा 'बीस साल का तो हो ही। सोलह साल की लड़की है तो बीस साल का लड़का होना ही चाहिये।' उसने कहा 'मैं ले आऊँगा।' वह गया और पाँच-पाँच साल के चार लड़कों को ले आया! मालिक ने पूछा 'ये बच्चे कौन हैं?' नौकर बोला 'आपकी कन्या के लिये वर हैं!' 'अरे! ये बच्चे वर कैसे हैं?' उसने कहा 'जी आपने ही बताया था कि सौ का एक नोट न मिले तो दस के दस नोटों से काम हो जाता है। मुझे बीस साल का एक लड़का नहीं मिला तो मैं पाँच-पाँच साल के चार लड़के ले आया, एक ही बात है।' दस-दस के नोट जोड़कर सौ रुपये का काम चल जायेगा लेकिन यों जोड़कर लड़के का काम नहीं चलेगा। इसी प्रकार छोटे-छोटे ज्ञानों से विज्ञान में तो काम चल जायेगा परन्तु ज्ञान इस प्रकार से नहीं होता। अतः विज्ञान के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति, परमात्मा की प्राप्ति संभव नहीं है।

यह जो संसार है इसका मूल उद्देश्य है ज्ञान के द्वारा इस अज्ञान का नाश करना। यह एकमात्र परमात्मा के ज्ञान से ही हो सकता है। अतः यह सारी सृष्टि की कला तुम्हारे लिए हितकारी है, तुम्हारे अज्ञान की निवृत्ति के लिए है। यदि यह सृष्टि न होती तो तुम्हारा अज्ञान किसी तरह से हट नहीं सकता था। केवल कल्याणरूप नहीं है, अत्यन्त सुन्दर यह सृष्टि है,

लावण्यमयी भी है। ऐसी सुन्दर है की सारे शास्त्र, सारे महात्मा तुमको समझाते हैं कि 'अरे! इससे मन को हटाओ', पर मन इसे बार-बार पकड़े रहता है। अत्यन्त सुन्दर है तभी न पकड़ता है, नहीं तो काहे को इसको पकड़े? अतः यह जो पारमेश्वरी सृष्टि है यह कला है। हितकारी और सुन्दर है। ऐसी सुन्दर है कि उस सुन्दरता के अन्दर मन लुप्त हो जाता है और प्रयोजन को मनुष्य भूल ही जाता है। साहित्य पढ़ने वालों को पता होगा, कई बार आदमी साहित्य पढ़ता है तो एक पंक्ति की सुन्दरता में ही मन इतना मग्न हो जाता है कि सारा ग्रंथ क्या कहना चाह रहा है उस तरफ ध्यान जाता ही नहीं। ऐसा ही यह संसार है।

'चूडालंकृतशशिकलाभ्या' शशी कहते हैं चन्द्रमा को। चन्द्रमा को शशी क्यों कहते हैं? शश नाम है खरगोश का। संस्कृत में शश खरगोश को कहते हैं। शश वाला जो हो उसे शशी कहेंगे, खरगोश वाला जो हो उसे शशी कहेंगे। पूर्ण चन्द्रमा को कभी तुम देखो तो उसके ठीक बीच में खरगोश दिखाई देगा। अतः चन्द्रमा को शशी कहते हैं अर्थात् बीच में खरगोश जैसे दाग वाला। भगवान् शंकर के सिर पर भी चंद्रमा है और भगवती के सिर पर भी चन्द्रमा है, इसलिए कहा कि दोनों के सिर पर शशिकला है। यहाँ कला का अर्थ है टुकड़ा। कला टुकड़े को भी कहते हैं, जैसे कहते हैं, सोलह कलावाला पुरुष अर्थात् सोलह हिस्सों वाला पुरुष। सिर के ऊपर पूर्ण चन्द्रमा नहीं होता है। द्वितीया का चन्द्रमा अर्थात् चन्द्रमा का एक हिस्सा-सा होता है। शशिकला कहाँ पर है? उनकी जो चूडा अर्थात् सिर के बालों का जो ऊर्ध्व भाग है उसके ऊपर चन्द्रमा है। चन्द्रमा वहाँ बैठा हुआ तुमको कुछ उपदेश देता है : चन्द्रमा कहता है, 'मुझे देखो तो सही, मेरे अन्दर तीन दोष हैं--मैं वक्राकार अर्थात् टेढ़ा हूँ। द्वितीया का चन्द्रमा देखो तो टेढ़ा होता है। मेरे बीच में काला खरगोश जैसा कलंक है और शरीर जड है। ऐसा मैं भी शंकर

के चरणों की सेवा के प्रसाद स्वरूप इतना ऊपर पहुँच गया, उनके सिर के ऊपर पहुँच गया।' किसी भी आदमी को कहो 'अरे तू बड़ा टेढ़ा है।' तो मतलब होता है कि अच्छा आदमी नहीं है। जगह-जगह शास्त्रों में इसलिए आर्जव को गिनाया, सरलता को गिनाया। टेढ़ा नहीं, सरल होना चाहिये। आर्जव को गुण माना है और वक्रता को दुर्गुण माना है। इसी प्रकार कलंक वाले पुरुष को दुनिया में लोग बुरा मानते हैं। कहीं-कहीं तो कानून भी है कि जिस व्यक्ति के ऊपर अदालत कलंक निर्धारित कर दे कि 'इस आदमी ने इस प्रकार की गलती की है' तो वह चुनाव में खड़ा होने लायक भी नहीं माना जाता, ऐसा गया-बीता माना जाता है। पुराने ज़माने में अंग्रेज़ों के समय में भी जो इस प्रकार के कलंकी लोग होते थे उनको प्रतिसप्ताह जाकर थाने में लिखाना पड़ता था कि वे कहाँ हैं। यदि कोई चोरी डकैती इत्यादि होती थी तो पहले उन्हें पकड़ा जाता था। ठीक जिस प्रकार से अब भले आदमी को पहले पकड़ते हैं, गुण्डों को पकड़ने की तो हिम्मत नहीं होती है, भले आदमी को झट से पकड़ लेते हैं। पहले इससे विपरीत था, जो कलंकी होते थे उनको पहले पकड़ा जाता था। भला आदमी, जब तक उसके विरुद्ध प्रमाण नहीं मिले, नहीं पकड़ा जाता था। अतः जैसे टेढ़ा होना बुरा है, वैसे ही कलंकी होना भी बुरा है। 'जडतनुः' कोई आदमी कोई भी बात कहने पर नहीं समझता है तो कहते हो 'यह जडबुद्धि है, इसको कुछ समझ में आता ही नहीं।' अतः जडबुद्धि होना भी दुर्गण माना जाता है। यदि हमारे अन्दर ये तीनों दुर्गुण हैं, तो भी यदि हम भगवान् शंकर के चरणों की सेवा करते हैं तो हम अवश्य श्रेष्ठ भाव को प्राप्त करेंगे। ऐसे दुर्गुणों की खान हम लोगों को चन्द्रमा चूडा पर बैठकर कह रहा है कि 'तुम हिम्मत मत हारो, जब मैं यहाँ पहुँच सकता हूँ तो तुम भी जरूर पहुँच जाओगे।'

'अलंकृत' शब्द बड़ा विचित्र है। अलंकार का मतलब क्या होता है? अलं का मतलब होता है पर्याप्त, काफी। यदि हम खा रहे हैं, और तुम कहते हो 'और लीजिये' तो संस्कृत में मना करने के लिये कहेंगे 'अलं अलं', अर्थात् बस। अलं का मतलब होता है पर्याप्त, काफी, उसके बाद और नहीं चाहिये। अतः अलंकार का मतलब हुआ जितना तुमको धारण करना शोभा देता है। चाहे गहना हो, चाहे वस्त्र हो, चाहे और कुछ हो, बस उतना ही शोभा देता है, उससे ज्यादा से शोभा बिगड़ जायेगी, रहेगी नहीं। गहना भी तब तक गहना है जब तक तुम्हारे ऊपर फबे। अधिक होने पर गहने भी भद्दे लगने लगते हैं। अलंकार का मतलब है–बस उतना ही करना, उससे ज्यादा नहीं। भगवान् शंकर और पार्वती के सिर पर चन्द्रमा क्या कर रहा है? अलंकार कर रहा है अर्थात् उतने मात्र से भगवान् की शोभा बढ़ रही है कि 'ऐसा जो सर्वथा असहाय है उसकी भी सहायता भगवान् करते हैं।' बस इतना ही, इससे ज्यादा और कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। इसलिए सिर के ऊपर और किसी अलंकार की आवश्यकता नहीं।

'निजतपःफलाभ्याम्' वे दोनों एक-दूसरे के तप का फल हैं। भगवान् शिव के तप का फल भगवती पार्वती हैं और भगवती पार्वती के तप का फल शिव हैं। दक्ष प्रजापति ने भगवती की आराधना की। भगवती ने जब प्रसन्न होकर दर्शन दिया और कहा वर माँगो तब दक्ष ने कहा 'मेरे यहाँ आप पैदा होओ।' तो भगवती ने कहा 'कुछ और माँग लो, यह मत माँगो, क्योंकि मेरा विवाह भगवान् शंकर से होगा, वे तुम्हारे दामाद हो जायेंगे। तुम सोचोगे 'मैं ससुर हूँ' और वे सारे ब्रह्माण्ड के मालिक हैं इसलिए उनका ससुर कोई हो सकता नहीं! जरूर तुम कभी-न-कभी गलत ढंग से पेश आओगे और फिर तुम्हारा अकल्याण होगा।' दक्ष प्रजापति ने प्रतिज्ञा की 'मैं कभी भी शिव का अपमान नहीं करूँगा, तुम मेरे घर पैदा हो जाओ।' तो भगवती सती होकर उत्पन्न हो गई।

विवाह हो गया। कुछ समय तक तो ठीक चलता रहा। दक्ष थे तो प्रजापति अतः सर्वत्र उनका सम्मान और आदर होता था। एक बार ब्रह्माजी की सभा में पहुँचे। ब्रह्मा तो पिता थे इसलिए ब्रह्माजी उनको आदर दें यह तो प्रश्न ही नहीं परन्तु वहाँ भगवान् शंकर भी थे, उन्होंने भी आदर नहीं दिया। और सब बैठे हुए थे तो आदर देने के लिए खड़े हुए परन्तु शंकर खड़े नहीं हुए। बस, दक्ष प्रजापति के मन में आया 'देखो! सब लोगों के बीच में इस प्रकार मेरा अपमान कर रहा है। मैं कर्मकाण्ड का प्रजापति हूँ इसलिए इसका सभी कर्मों से बहिष्कार कर दूँगा।' बहिष्कार के लिए यज्ञ का बड़ा भारी आयोजन किया। दधीचि इत्यादि ने उनको समझाने का प्रयत्न किया कि सारे यज्ञों का फल देने वाले यदि शिव ही नहीं होंगे तो कैसे यह यज्ञ पूर्ण होगा? उसने कहा 'मैं प्रजापति हूँ मैं जो कहूँगा वही होगा।' जैसे वर्तमान के नेता सोचते हैं कि जो कानून बना देंगे वह कानून ही ठीक है! हम पूछते हैं कि तुमको कानून बनाने का अधिकार कहाँ से आया? तुम्हारा कानून कोई दूसरा माने तो तुम किसका कानून मानते हो? ठीक दक्ष प्रजापति की तरह वे कहते हैं 'हम 'सॉवरेन' अर्थात् सर्वाधिकारसम्पन्न हैं। संसद् में प्रस्ताव पारित कर चाहे जो कानून बनाने के अधिकारी हैं।' फ्राँस के अन्दर जब प्रथम बार क्रांति हुई तो पार्लियामेंट ने प्रस्ताव पास कर दिया था 'आज से ईश्वर नहीं रहेगा!' पार्लियामेंट गई, उसके बाद चार रिपब्लिक बने, वे सब गये, परमेश्वर तो वैसा-का-वैसा है। सत्तर साल तक रूस में कानून था कि ईश्वर को मानना अपराध है। साम्यवादी भी गये, ईश्वर वैसा-का-वैसा बैठा हुआ है। ऐसी संसद् को सर्वाधिकारसम्पन्न कैसे कहा जाये? कानून तुम्हारा मानने लायक तभी होगा जब तुम खुद किसी कानून के अन्तर्गत हो, अन्यथा जैसे तुम किसी का कानून नहीं मानते, वैसे लोग भी तुम्हारा कानून नहीं मानते।

दक्ष प्रजापति भी इसी प्रकार अपने को निरंकुश मानता था कि 'यज्ञों का मैं प्रजापति हूँ, यज्ञ में जिसको मैं कोई भाग नहीं दूँगा, उसका यज्ञ से बहिष्कार हो जायेगा।' भगवान् शंकर को पता तो था परन्तु उनको उससे क्या? सती वहाँ गईं, और वहाँ उसने अपना शरीर यज्ञकुण्ड में डाला और वह जल गयीं। अब सती के शरीर छोड़ने के बाद भगवान् शंकर हिमालय में जाकर निरन्तर समाधि का अभ्यास करते रहे। इसलिए सती ने फिर से निर्णय किया कि 'मुझे फिर शरीर लेना है परन्तु अब साधारण जगह नहीं लूँगी, अचल जो हिमालय है उसकी ही पुत्री बनूँगी।' पार्वती जी पैदा हुई क्योंकि भगवान् शंकर की तपस्या फलीभूत होनी थी। पार्वती ने पैदा होकर फिर क्या किया? तपस्या की। इतनी घोर तपस्या की भगवान् शंकर की प्राप्ति के लिये कि उनकी माँ ने उन्हें मना किया। संस्कृत में 'मा' का मतलब होता है 'मत, नहीं।' उसकी घोर तपस्या को देखकर हिमालय की पत्नी मेना ने कहा 'उमा' 'अरे! इतना नहीं।' इससे पार्वती का नाम ही उमा पड़ गया। पत्ते तक खाना छोड़ दिया था, इसलिए उनका दूसरा नाम अपर्णा पड़ गया। ऐसी घोर तपस्या के फलस्वरूप ही उनको भगवान् शंकर की प्राप्ति हुई। पार्वती की तपस्या का फल भगवान् शंकर और शंकर की तपस्या का फल पार्वती थी। इसलिये कहा **'निजतपःफलाभ्याम्'**।

'अस्तोकत्रिभुवनशिवाभ्यां' स्तोक का अर्थ है बचा हुआ। अस्तोक अर्थात् जिसमें कुछ भी बचा हुआ न हो। ऐसे जो त्रिभुवन–यह लोक, परलोक और बीच का अन्तराल। भूः हो गया यह लोक, स्वः हो गया परलोक और बीच का जो अन्तराल है वह हो गया भुवः। भूः भुवः स्वः इन तीन के अन्दर सारे लोक आ जाते हैं। अस्तोक अर्थात् कुछ भी न बचा हुआ ऐसा यह जो त्रिभुवन, उसका वे निरन्तर कल्याण करने वाले हैं, तीनों लोकों का निरन्तर कल्याण करते हैं। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त सभी

के लिए उनका कल्याण का काम चलता रहता है। उस कल्याणरूप को कभी हम लोग समझ पाते हैं, कभी नहीं समझ पाते हैं। ठीक जिस प्रकार से बच्चा दिन भर खेल कर आया। खेलने से पसीना हो गया, धूल भी लग गई। घर आकर बच्चा कहता है 'मुझे भूख लगी है' दिन में जब कह रहे थे 'अरे! आओ, खालो' तब कहता रहा 'भूख नहीं है', क्योंकि खेल में लगा हुआ था। अब आते ही कहता है भूख लगी है। माँ कहती है 'पहले स्नान करो फिर उसके बाद खाना मिलेगा।' वह कहता है 'स्नान करने की क्या ज़रुरत है? सबेरे नहाया तो था।' माँ कहती है 'चलो नहाने।' अच्छी तरह से उसको साबुन लगाती है। उसको अच्छा लगता नहीं है, वह समझता है मेरे साथ अन्याय हो रहा है, क्या ज़रूरत है नहाने की?' पर माँ को पता है कि अगर नहीं नहायेगा तो धूल में, गंदगी में, पसीने में, तरह-तरह के चर्म रोग आदि हो सकते हैं। इसलिए उसकी इच्छा नहीं होने पर भी जबरदस्ती नहलाती है। उसके बाद उसको भोजन कराती है। जब नहला रही है तब माँ तो कल्याण कर रही है परन्तु बच्चा इसको कल्याण नहीं समझता है। ठीक इसी प्रकार हम लोग भी इस संसार के अन्दर खेल रहे होते हैं, परमेश्वर हमें वेदादि शास्त्रों से कहता है 'इस समय थोड़ी देर संसार का खेल छोड़कर भोजन कर लो।' हमारा वास्तविक भोजन क्या है? जो चीज़ जिससे पैदा होती है वह उसी से पुष्ट होती है–यह नियम है। माता-पिता ने जो अन्न खाया, उससे उत्पन्न शुक्र-शोणित के द्वारा हमारा शरीर पैदा हुआ। शरीर अन्न से हुआ इसलिए शरीर का पोषण भी अन्न ही करता है। बिना अन्न के शरीर पुष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार से मन विचारों से बनता है, अतः जितना तुम अध्ययन करोगे उतना तुम्हारा मन, अन्तःकरण पुष्ट होगा।

ऐसा कुछ नहीं है कि साधारण मज़दूर में और विश्वविद्यालय के उपकुलपति में कोई बहुत बड़ा दिमाग का फ़र्क है। बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक बुद्धिमान् के दिमाग में और बिलकुल साधारण व्यक्ति के दिमाग में बहुत ज़्यादा फर्क होगा तो बीस प्रतिशत का होगा, अस्सी प्रतिशत तो दोनों के पास उतना ही ज्ञान का साधन अर्थात् बुद्धि है। फर्क किसमें है? एक ने अनेक विचारों को अध्ययन करके समझकर अपने मन को पुष्ट किया है। दूसरे ने विचारों को ग्रहण नहीं किया इसलिए उसका मन पुष्ट नहीं हुआ। मन विचारों से बना है तो विचारों से ही पुष्ट होगा। इसी प्रकार से जीव परमेश्वर से बना है, वेद कहता है **'अमृतस्य पुत्राः'** तुम उस अमृत परमात्मा के पुत्र हो, उसी से पैदा हुए हो। अन्यत्र उपनिषद् कहती है कि 'जैसे आग जल रही होती है तो उस आग में से चिनगारियाँ निकलती हैं, ठीक इसी प्रकार उस परमात्मा से जीव निकलते हैं। चूँकि हम परमात्मा से पैदा हुए हैं अतः हमारा पोषक तत्त्व परमात्मा है। इसलिए जितना उसका विचार करेंगे, ध्यान करेंगे, श्रवण करेंगे, उतना हम पुष्ट होंगे। वेदादि सच्छास्त्र कहते हैं 'बेटा! आओ, खा लो, अपनी बुद्धि पुष्ट करो, परमात्मा का चिंतन करो।' पर बच्चे की तरह हम कहते हैं नहीं-नहीं, अभी हमें खेल लेने दो। बाद में देखेंगे। जब हम भी आपकी तरह बुड्ढे हो जायेंगे तब भजन कर लेंगे। अभी हमारा कोई भजन करने का समय है!'

संसार के व्यवहारों में लगे हुए होते हैं तो अनेक पाप कर्म इकट्ठे होते हैं। जैसे खेलोगे तो धूल भी लगेगी, कीचड़ भी लगेगा, इसी प्रकार संसार के व्यवहार करोगे तो अनेक तुमसे ग़लत कर्म होने ही हैं। यह संसार का स्वरूप है। गीता में भगवान् ने इसलिये स्पष्ट कह दिया कि जिस प्रकार से गर्भ के ऊपर जरायु होता है उसी प्रकार मनुष्य जब कर्म करता है, चाहे जितना सावधान रहे, दोष हो ही जाता है। कभी प्रमाद हो जाता है,

किसी चीज़ की तरफ़ ध्यान नहीं जाता। घर में पत्नी ने चाय अच्छी पिलायी नहीं, जब उससे कहा 'चाय अच्छी नहीं बनी' तो कहती है 'जी, बस आज पी लो जैसी है। पत्ती ख़त्म हो गई है, कल भूल गई थी लाना।' ठीक चाय न मिलने से तुम्हारा मिजाज़ खराब है। आकर दवाखाने में बैठे। रोगी सुनाता है अपने रोग के चिह्न। सम्बद्ध-असम्बद्ध सभी तरह के चिह्न बताता है क्योंकि उसे इसका कोई विवेक नहीं कि कौन-सा सम्बद्ध है, कौन-सा नहीं। तुम्हारा मिजाज़ ठीक न होने से तुम उसकी बात पूरी तरह नहीं सुनते, कुछेक चिह्न सुनकर दवा लिख देते हो। अगर सब सुन लिए होते तो ठीक दवाई दे देते। प्रमाद किया। व्यवहार करोगे तो ऐसा सब होना ही है। कभी प्रमाद से तो कभी भ्रम से ग़लती हो जाती है। हमने कोई रोग समझा और निकला कुछ और क्योंकि कई रोगों के चिह्न एक जैसे ही होते हैं। पेट में वायु हो जाये तो भी चक्कर आता है, छाती में दर्द हो जाता है। हमने भ्रम से समझ लिया की हृदय की तकलीफ हो गई। या उलटा हो जाता है, हृदय की तकलीफ है, हमने पेट की तकलीफ समझ ली। ग़लती के कई कारण हो सकते हैं। इसलिए भगवान् ने कहा **'सर्वारम्भाः'** जितने भी कर्म हैं, उनमें कहीं-न-कहीं ग़लती होगी ही। आग जलाओगे तो कितनी भी सूखी लकड़ी हो, थोड़ा-बहुत धुआँ तो होगा ही। जैसे बच्चे के शरीर में गंदगी नुकसान का कारण है ऐसे ही पाप कर्म, दुष्ट कर्म आत्मा के लिए नुकसान करने की चीज़ है। अतः उन पापों को धोना जरूरी है। पापों को जब धोया जाता है तब तुमको कष्ट होता है, तुमको अच्छा लगता नहीं क्योंकि तुमको पता नहीं कि उस पाप को धोना कितना ज़रूरी है। तुम सोचते हो 'देखो! भगवान् हमें कष्ट दे रहा है, हमारा कल्याण कहाँ कर रहा है? हमें तो दुःख दे रहा है।' वह दुःख नहीं दे रहा है। वह तुम्हारा कल्याण ही कर रहा है जिससे तुम शुद्ध होकर परमानन्द की प्राप्ति के योग्य बन सको। इसलिए कहा **'अस्तोक-त्रिभुवन-**

शिवाभ्यां' अस्तोक अर्थात् सारे लोकों का, तीनो लोकों का कल्याण करने वाले भगवान् गौरी-शंकर।

करते तो वे सबका ही कल्याण हैं, लेकिन **'भक्तेषु प्रकटितफलाभ्यां'**, भक्त जो होता है वह तो यह कल्याणकारिता समझता है। कल्याणरूपी फल उसके हृदय में तो प्रकटित रहता है, प्रकट रहता है, वह जानता है कि परमेश्वर कल्याण ही कर रहे हैं। इसलिए दुःख के काल में भी वह सुख का अनुभव करता है। भक्त होने से वह परमेश्वर के इस स्वभाव को समझता है कि परमेश्वर सबका कल्याण करता है। भक्त इस बात को जानता है कि वे हमारा कल्याण कर रहे हैं, परन्तु दूसरे इस बात को जानते नहीं। यदि हमें यह पता है कि डाक्टर हमें इंजेक्शन लगा रहा है, इतनी बड़ी सुई घुसा रहा है, तो भी दर्द तो होता ही है पर उपचार हो रहा है ऐसा समझकर सहन कर लेते हो। ऐसा नहीं कि सुई से पीड़ा न होती हो। पर यदि तुमको पता है कि 'डाक्टर इंजेक्शन लगाकर मेरी तकलीफ दूर कर देगा', तब तो इतनी बड़ी सुई घुसायेगा तो भी तुम प्रसन्न होगे कि थोड़ी-सी सुई घुसी है लेकिन रोग हट जायेगा। परन्तु जो इस बात को नहीं जानता वह तो चिल्लाता है, भागता है। ठीक इसी प्रकार से जो भक्त है उसे पता है कि परमेश्वर मेरे कल्याण के लिए कर रहा है, इसलिए उसके हृदय में वह फल प्रकट रहता है।

और वे कैसे है? 'पुनः' मायने और भी; **'आनन्द-स्फुरदनुभवाभ्याम्'** आनन्द का स्फुरण होना उनका स्वरूप है। भगवान् शंकर आनन्दरूप हैं परन्तु शिवा के होने से वह आनन्द स्फुरित होता है, आनन्द प्रकट होता है। ठीक जिस प्रकार से सूर्य का प्रकाश प्रकाश तो है ही, परन्तु यदि वही सूर्य का प्रकाश बढ़िया सुन्दर बेल्जियम के काँच पर पड़ता है तो सूर्य जैसा है वैसा प्रकट हो जाता है। काँच में कोई विशेष किरणें आती हों

ऐसा नहीं है, जो किरणें सब जगह हैं वे ही वहाँ भी हैं, परन्तु काँच में पड़ने पर सूर्य प्रकट हो जाता है, अन्यथा प्रकट नहीं होता। इसी प्रकार परमेश्वर आनन्दस्वरूप है परन्तु पार्वती के होने पर उनका वह आनन्द प्रकट हो जाता है, स्फुरित हो जाता है। ब्रह्माकार वृत्ति बनती है तो ऐसा नहीं है कि कोई नया आनन्द होने वाला है, परन्तु वह आनन्द स्फुरित हो जाता है। एक बार तुमने उनको पहचान लिया तो फिर सब जगह उनकी पहचान बनी रहती है क्योंकि वे सर्वत्र मौजूद तो हैं ही। अतः पहले तो तुमको निर्विशेष वृत्ति बनाकर उसको समझना पड़ता है पर फिर सविशेष में भी तुम उसी को पहचान लेते हो। ठीक जैसे जब सुनारी सीखते हो तब कसौटी के पत्थर पर तुमको सौ टंच का सोना रगड़कर उसके रंग को परखना पड़ता है। परन्तु एक बार तुमने सोनारी सीख ली तो फिर चाहे बारह कैरट का हो, चाहे चौबीस का हो, अठारह का हो, बीस का हो, सबमें तुमको दीख जायेगा किसमें कितना सोना है। इसी प्रकार से उस आनन्द के स्फुरण को समझने के लिए तो तुमको परमात्मा के संबंध से वृत्ति का निर्माण करना पड़ेगा परन्तु एक बार तुमने उसको ठीक तरह से पहचान लिया तो रसगुल्ला खाकर जो वृत्ति बनती है वह भी है तो आनन्द का ही स्फुरण। अतः तुमको सब जगह केवल उसके स्फुरण का ही भान होगा। आनन्द तो सनातनस्वरूप है परन्तु उसका प्रकटीकरण तभी होगा जब उसे पूर्णतः पहचान चुकोगे। आनन्द बाहर से मिलने वाली चीज़ नहीं, वह तो भीतर से खिलता है। कुछ लोग कहते हैं कि हँसना स्वास्थ्य के लिये हितकर है किन्तु हँसी हृदय से होनी चाहिये। अन्दर से आनन्द उमड़ता है तो स्फुरण कहलाता है। जिस प्रकार से रोने का कोई उद्देश्य नहीं है, लेकिन जब तुमको तेज़ दुःख होता है तो तुम रो पड़ते हो। रोने से कोई फ़ायदा हो जायेगा—ऐसा नहीं है, लेकिन जब हृदय में दुःख भरा हुआ हो तो रोते ही हो। दुःख का उफान, दुःख का स्फुरण, दुःख का प्रकटीकरण जिस प्रकार से रोना है,

उसी प्रकार से जब तुम्हारा आनन्द तुम्हारे अन्दर थमता नहीं, उसका उफान होकर बाहर निकलता है, तब हँसी आती है। यह प्रश्न नहीं बनता कि तुम क्यों हँस रहे हो; अन्दर आनन्द नहीं समाता है तो हँसते हो जैसे अन्दर दुःख नहीं समाता है तो रोते हो। इसलिये कहा **'आनन्दस्फुरदनुभवाभ्याम्'**। 'भ्याम्' के द्वारा यह कह रहे हैं कि स्फुरण आनन्द का है और आनन्द का स्फुरण है! स्फुरण तो हो गई शिवा भगवती, और आनन्द हो गये भगवान्।

यह आनन्द का स्फुरण पुनः कहाँ होता है? 'हृदि' हृदय के अन्दर होता है। हृदय शब्द समझने का है : जिसके अन्दर तुम्हारे मन और बुद्धि, ज्ञान और इच्छा, अथर्ववेद के शब्दों में--दिमाग और हृदय ये दोनों सीकर एक हो जाते हैं वह हृदय है। प्रायः हमारे ज्ञान और इच्छा के अन्दर फ़र्क बना रहता है, जानते हम कई चीज़ों को हैं परन्तु इच्छा नहीं होती, और इच्छा हम कई चीज़ों की करते हैं पर उनके बारे में हमें ज्ञान नहीं होता। ज्ञान और इच्छा--दोनों जब एक हो जायें तब वह हृदय के अन्दर होने वाला अनुभव कहा जाता है। इसलिए कहा कि आनन्द का स्फुरण, अनुभव हृदय में होता है। कई बार देखोगे कि जब तीव्र दुःख होता है तब छाती के मध्य में लगता है जैसे कुछ अटक गया हो, इसी प्रकार से तीव्र सुख होता है तब भी छाती के मध्य में लगता है मानो यहाँ झटका लग रहा है। जहाँ वह झटका-सा लगता है, उसी को हम लोग 'हृदय' कहते हैं। आनन्द के स्फुरण का अनुभव हृदय में ही होता है। ऐसे जो **'शिवाभ्यां'** गौरी-शकंर हैं उनके लिये **'इयं नतिः'** यह नमस्कार है।।१।।

(२)

यद्यपि शास्त्रों से तो जाना है कि हृदय में आप ही हैं परन्तु शास्त्रों से जानने पर भी उस स्फुरण का अनुभव अभी नहीं हुआ है इसलिये आपको नति करते हैं, नमस्कार करते हैं ताकि उस स्फुरण का अनुभव हमें हो। निन्यानबेवें श्लोक में कहेंगे **'कथं शम्भो स्वामिन् कथय मम वेद्योऽसि पुरतः'**। शम्भो! स्वामिन्! जिन आपका आदि अन्त ब्रह्मा और विष्णु नहीं देख पाये उन आपने यह कैसे कर दिया कि मेरे सामने पूरे के पूरे प्रकट हो रहे है? यह असम्भव काम सम्भव कैसे हो गया? यहाँ जो प्रार्थना की है, वह उस श्लोक में पूरी हो जायेगी। किन सीढ़ियों से चलकर वहाँ पहुँचा जाता है, इसका वर्णन आगे चलता है--

गलन्ती शम्भो त्वच्चरितसरितः किल्बिषरजो,
दलन्ती धीकुल्यासरणिषु पतन्ती विजयताम्।
दिशन्ती संसारभ्रमणपरितापोपशमनं,
वसन्ती मच्चेतो हृदभुवि शिवानन्दलहरी ।।२।।

हे शम्भो! आपके चरित्ररूप सरिताओं से निकलने वाली, पापधूलि को नष्ट करने वाली, विभिन्न बुद्धिवृत्तियों में प्रतिफलित होने वाली, संसरण के परिताप को शान्त करने वाली, मेरे मनरूप सरोवर में निरन्तर बसने वाली यह शिवानन्दलहरी सबसे श्रेष्ठ है।

मेरा चित्त सरोवर की तरह है, तालाब की तरह है। मेरा **जो चित्त**रूपी तालाब है उसके अन्दर यह शिवानन्दलहरी, शिव **के आनन्द** की लहरी प्रकट होती है। चित्तरूपी सरोवर के अन्दर **ही यह लहर** उठती है। शिवानंद की लहर कहाँ उठेगी? चित्तरूपी सरोवर में उठेगी। वह शिवानन्दलहरी क्या करती है? आपकी जो चरित्ररूपी सरिता अर्थात् नदी है, जितने भी किल्बिष हैं, जितने

भी दोष हैं, उनकी जो धूल है, मिट्टी है, सबको 'गलन्ती' बहा देती है। आबू में नक्की तालाब है। हम लोग भारतीय हैं, नाव में बैठ कर घूमने जाते हैं, घूमते हुए चिप्स खा लेंगे और उसकी प्लास्टिक की थैली वहीं डाल देंगे! पहले कम-से-कम ठोंगे कागज़ के होते थे तो कुछ दिनों में गलकर खत्म हो जाते थे। पर प्लास्टिक पड़ा रहेगा। साल भर इसी तरह के विभिन्न कचरे से तालाब तो गंदा होता है। सरकार को तो समय है नहीं कि उसकी सफाई करे! जब ज़ोर से पानी बरसता है तब तालाब भरकर ऊपर से पानी बहता है, तब सारी गंदगी निकल जाती है। उसके बाद फिर देखो तो तालाब साफ होता है। इसी प्रकार हमारा जो हृदय है, हमारा जो चित्त है, वह भी तालाब है। दुनिया भर का किल्बिष हम उस चित्त में डालते रहते हैं : एक टेलीविज़न खरीद कर रख लेते हैं, उसमें दुनिया भर के विज्ञापन आते रहेंगे। उसमें सिर्फ़ खबरें भी सुनो तो खबरों के पहले और पीछे तथा आजकल तो हमने सुना है कि बीच में भी थोड़ा-बहुत विज्ञापन आ जाता है। ऐसा कचरा डालते रहते हो अपने चित्त में, हृदय में। रास्ते में जा रहे हो, बड़े-बड़े इश्तिहार, पोस्टर लगे रहते हैं जो अवश्य दीखें। उन पर जो चित्र और विज्ञापन के वचन लिखे रहते हैं सब कचरा ही है। दिन भर इस प्रकार कचरा उसमें डालते रहते हो। हे शम्भो! जब आपके चरित्ररूपी जो सरित का, नदी का प्रवाह आता है इससे चित्त धुलकर साफ हो जाता है।

भगवान् शंकर के सबसे प्रसिद्ध मंत्रों में तीन नाम हैं। वेदों के मध्य में रुद्राध्याय आता है। एक तरफ ऋग्वेद और करीब आधा यजुर्वेद तथा दूसरी तरफ सामवेद, अथर्ववेद; सामवेद बहुत छोटा है। इस तरह वेदों के मध्य में रुद्राध्याय आता है। उस रुद्राध्याय के मध्य में यह आता है–

'नमः शंभवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च'।

इससे तीन नामों से भगवान् का स्मरण किया है–शंभु, शंकर और शिव। शम् अर्थात् कल्याण, वे कल्याणस्वरूप हैं, **'शं भवति इति शंभुः'**, जो कल्याणरूप हो उनको शंभु कहते हैं। कल्याणरूप हैं तो होंगे! बिड़लाजी अरबपति हैं तो होंगे, हमसे क्या? हमारे गाँव के अन्दर एक सेठ है, हैं तो उसके पास अस्सी हज़ार रुपये ही, लेकिन हमें ज़रूरत ही पड़ती है सौ-डेढ़ सौ रुपये की, जब जाते हैं, माँगते हैं तो वह दे देता है। अतः हमारे लिए तो वही बिड़ला-टाटा है। बिड़ला जी अपने घर में करोड़पति होंगे, हमारे किस मतलब के! इसी प्रकार भगवान् कल्याणस्वरूप हैं, शंभु हैं तो होंगे! हमें तो रसगुल्ले से ही कल्याण दीखता है, रसगुल्ला खाने को मिल जाये तो लगता है कि हो गया काम। इसलिए कहा कि वे केवल शंभु नहीं हैं, शंकर भी हैं। **'शं कल्याणं करोति इति शंकरः'** कल्याणस्वरूप हैं और तुम्हारा कल्याण करते हैं। वह कल्याण तुमको कहाँ पहुँचाता है? आगे कहा **'शिवाय च'** तुमको शिवस्वरूप की प्राप्ति कराता है।

विचार करो, तुम्हारे शरीर के अन्दर कल्याणस्वरूप क्या है? तुम्हारा प्रत्यग् आत्मा। जब तक तुम्हारा प्रत्यगात्मा तुम्हारे शरीर में है तभी तक तुम्हारा शरीर कल्याणरूप है। पिता को थोड़ा-सा धक्का भी लग जाये तो दोष माना जाता है, तुरन्त उसके पैर छूते हैं कि गलती हो गई, परन्तु कब तक? जब तक वहाँ प्रत्यग् आत्मा है। बाद में उसको बाँध कर ले जा कर निगमबोध घाट के अन्दर जला देते हैं और खोपड़े के अन्दर भी छेद करके घी भर देते हैं। तब क्या दोष लगता है या पुण्य होता है? पिता की अन्त्येष्टि करने से पुण्य होगा। जिसको थोड़ा-सा धक्का लग जाये तो दोष, उसके साथ इतना भयंकर काम करो तो पुण्य होता है। क्यों? क्योंकि आत्मा चला गया है। पिता

के चरण स्पर्श करो तो पुण्य होता है और उसी पिता से जब प्रत्यगात्मा चला गया तब तुमको नहाना पड़ेगा। तो आत्मा के कारण ही तुम कल्याणस्वरूप हो। कल्याणस्वरूप जो आत्मा है उस आत्मा का चरित्र क्या है? उपनिषद् शुरू ही करती है यह बताने से **'आत्मैवेदमग्र आसीत्'** अर्थात् यह सब सृष्टि उत्पन्न होने के पहले आत्मा था, उस आत्मा ने ही आगे सारी सृष्टि को बनाया। सारी उपनिषदें सृष्टिप्रक्रिया से ही शुरू होती हैं। आत्मा के चरित्र का सरित् क्या है? यह सारा संसार उसके चरित्र का ही निरन्तर प्रवाह है। जिस प्रकार से गीता में जब अर्जुन ने पूछा कि भगवन्! आप अपनी सारी विभूतियों को बताइये, तब भगवान् ने विभूतियाँ थोड़ी गिनायीं, फिर कहा 'यह नहीं समझ लेना कि ये ही मेरी विभूतियाँ हैं। ये तो मैंने तुम्हारे सामने थोड़ा-सा नमूना रख दिया है। संसार के कण-कण और क्षण-क्षण में मेरी ही तो विभूति है।' इसी तरह परमेश्वर के कुछ चरित्रों का हम यहाँ वर्णन करेंगे पर यह नहीं समझ लेना कि इतने ही चरित्र हैं! जो कुछ भी संसार की सृष्टि का प्रवाह है वह सब उसका चरित्र है। कैसे सृष्टि बनी, कैसे जीव बना, इत्यादि जो सारी प्रक्रिया उपनिषदों में बताई, वह उसकी चरितसरिता है। उसके चिन्तन से हमारे चित्त के कल्मष धुलते चले जाते हैं। 'रज', वैसे, धूल को कहते ही हैं, लेकिन रजोगुण को भी रज कहते हैं। चित्त के किल्बिष के कारण ही हमारी दुष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं, जैसे-जैसे किल्बिष धुलता जायेगा, वैसे-वैसे हमारी प्रवृत्तियाँ क्षीण-क्षीणतर होती जायेंगी। जब हम सृष्टिप्रक्रिया का चिन्तन करते हैं, उस कल्याणस्वरूप परमात्मा का चिन्तन करते हैं, तब समझ में आता है कि कण-कण और क्षण-क्षण उसके सिवाय और कुछ है नहीं। परमात्मा हमसे कुछ करवाना चाहे और हम न करें—यह भी एक तरह की हमारी ही किल्बिषरज है। ऐसे ही वह नहीं करवाना चाहता है तब भी हम कहते हैं, 'हमें तो करना ही है', तो यह भी किल्बिष है। जब सृष्टि प्रक्रिया

को समझ लेते हो कि कैसे संसार का कण-कण और क्षण-क्षण केवल उसी का स्वरूप है, तब, यह किल्बिष रज 'गलन्ती' गल जाती है, धुल जाती है, दूर हो जाती है।

भगवान् कल्याणस्वरूप हैं, उनसे चरित्र की नदी निकलती है। जिस प्रकार से पहाड़ में जहाँ बड़े—बड़े हिमखण्ड होते हैं, वहीं नदी का प्रवाह बनता चला जाता है, इसी प्रकार भगवान् निर्विकार भाव से स्थिर रह कर भी अपने चरित्र की नदी का प्रवाह करते हैं। मुख्य प्रवाह सबसे पहले बतलाया सारी सृष्टि का निर्माण, इसकी स्थिति और इसका लय। यह उनका मुख्य चरित्र है क्योंकि बाकी सब चरित्र तो तब प्रारम्भ होंगे, जब पहले सृष्टि बन जाये! अतः प्रथम चरित्र है ईक्षण करना, कि 'सृष्टि हो जाये।' इसीलिए ब्रह्मसूत्रों के अन्दर भगवान् वेदव्यास ने कहा **'कामाच्च नानुमानापेक्षा'** (१-१-१८) श्रुति स्पष्ट कहती है **'सोऽकामयत'** कि उसने कामना की, और कामना करके इस सृष्टि-प्रवाह को शुरू किया। इसलिए सृष्टि का कुछ और कारण सोचने के लिये अनुमान की कोई ज़रूरत नहीं है, कोई अपेक्षा नहीं है। अनुमान पर निर्भर प्रकृति जड़ होने से कामना कर नहीं सकती कि वह कारण हो भी सके। सृष्टि का प्रवाह उनकी इच्छामात्र से होता है। इस मुख्य चरित्र के बाद, भिन्न-भिन्न कालों के अन्दर भिन्न-भिन्न भक्तों के लिए अथवा भक्त-समूह के लिए, वे प्रकट होकर अपने चरित्रों को प्रकट करते हैं। वह भी सब इस चरित-सरिता के अंतर्गत आ जाता है। यह नदी सारे ही किल्बिषों का जो रज है, मैल है, धूल है, उस सबको नष्ट करती जाती है।

उसको नष्ट करते हुए आगे क्या होता है? **'धीकुल्या-सरणिषु पतन्ती'**। नदी का प्रवाह चल रहा हो तो अपने-अपने खेतों में पानी लाने के लिये उस नदी से लोग नालियों का निर्माण करते हैं, उन्हीं को 'कुल्या' कहते हैं। हमारी जो बुद्धि है, हमारा

जो अंतःकरण है, वह नहर की तरह है, कूल्या की तरह है, नाली की तरह है। उनके चरित्रसरिता से सारे किल्बिषरूपी रजों की निवृत्ति होकर वह जल हमारे खेत में आता है। धीकुल्या-बुद्धिरूपी, अंतःकरणरूपी नाली के द्वारा आता है। नदी का प्रवाह तो बहुत बड़ा है, वह तो लाखों-करोड़ों जो भी उस नदी के किनारे हैं, सबको अपना जलप्रवाह देती है। लेकिन तुम्हारी खेती को पुष्ट करने वाला हिस्सा तो वह है जो तुम्हारी बुद्धि के अन्दर आया। तुम्हारी बुद्धि सीमित है अतः परमेश्वर के समग्र चरित्रों को तुम समझ भी सको यह सम्भव नहीं, तुमको उनका पता लग जाये यह भी सम्भव नहीं। अनन्त जीवों के लिए किस-किस प्रकार का चरित्र वे कहाँ-कहाँ करते हैं—यह हमारे लिये जानने का विषय भी हो यह सम्भव नहीं। अतः जो हमारी बुद्धि के अन्दर आयेगा, बस वही हमारे क्षेत्र में काम देगा। हमारे खेत को उगाने के लिये तो बस, उतना ही पर्याप्त है, उतना ही काफी है। यह समझने की बात है कि परमेश्वर के अनन्त चरित्रों के अन्दर जो हम समझ सकते हैं, बस उतना ही चरित्र हमारे काम का है। प्रायः लोग किसी चरित्र को कहीं पर भी श्रवण करें तो उसके अभिप्राय को सोचने लगते हैं, उसके बारे में विचार करने लगते हैं। यह ठीक है कि बड़ी भारी कोई दवा की दुकान है, उसमें दुनिया-भर की दवाएँ हैं, उन सारी दवाओं के बारे में जानकर तुम अपने उपयोग की दवा लेना चाहोगे तो असम्भव है। तुमको चिकित्सक ने जो दवा लिखकर दी, तुम जाओ वह दवा लो, और दवा खाओ, तुम्हारा काम हो जायेगा। यह दवा क्यों? वह दवा क्यों? इस दवा से क्या, उस दवा से क्या?—जब तक यह सब जानोगे तब तक वह रोग बिगड़ जायेगा और कोई भी दवा काम करने के लायक रह नहीं जायेगी! काशी में एक बड़े विद्वान् स्वामी जी थे, वेदांत के भी बड़े भारी विद्वान् थे, न्याय के भी बड़े भारी विद्वान् थे। उनको वैद्यक का भी बड़ा शौक था, आयुर्वेद के भी अच्छे विद्वान् थे। जब उनको कोई तकलीफ होती थी तब डॉक्टर

तो आता नहीं था वैद्य ही आता था। वैद्य आकर उनसे कहे 'यह दवा ले लो', तो वे उनसे घंटा, डेढ़ घंटा, दो घंटा 'यह दवा क्यों? वह लेंगे तो क्या होगा? अमुक लेंगे तो क्या होगा? यह क्यों न लिया जाये? मेरा रोग यह क्यों नहीं हो सकता?' इत्यादि पूछते रहते थे। अंत में उनको कोई दवा जँचती नहीं थी! कुछ समय बाद वहाँ के वैद्यों में यह प्रसिद्धि हो गई कि 'उन स्वामीजी के यहाँ मत जाना, उनको कोई दवा नहीं लेनी होती है, केवल माथा खाते हैं।' कोई जल्दी जाता नहीं था, बीमारियाँ कई बढ़ती गईं, अन्त में शरीर चला गया। वे कभी दवा का निर्णय नहीं कर पाते थे, जिस दवा की बात आवे उसमें दोष ही उन्हें दीखते थे।

वर्तमान काल में अनेक साधक उन्हीं की तरह हो गये हैं। पहले तो यह होता था : गुरुजी के पास गये, उन्होंने कहा 'भाई! यह परमेश्वर की लीला है, इसका चिन्तन करो, तुम्हारा कल्याण होगा', उसका चिन्तन करने में लग जाते थे, अपना कार्य सिद्ध हो जाता था। अब आ गयी छपाई की मशीन, टेलीवीजन, इण्टरनेट आदि बहुत आ गये। अब सब तरह की किताबें लोग बाँचते हैं। हर ग्रंथ की बात सबके काम की तो होगी नहीं। पढ़कर बैठे-बैठे 'यह कैसे हो गया, वह कैसे हो गया यह क्यों हुआ, वह क्यों हुआ?' इसकी उधेड़-बुन में लगे रहते हैं। इसलिए 'मैं क्या साधना करूँ' इसका निर्णय नहीं कर पाते। कहीं बौद्धों का शिविर हुआ तो वहाँ जाकर ध्यान लगा लेंगे, कहीं कोई देवीजी आने वाली होंगी तो वहाँ पहुँच जायेगें, हर जगह उनका प्रश्न यही होगा **'यह कैसे?'** नतीजा यही होता है कि कहीं पहुँच नहीं पाते। जैसे सारी दवाइयाँ हैं, वैसे ही परमेश्वर के अनन्त चरित्र हैं, परन्तु तुम्हारे काम का तो वह जो तुम्हारी नाली में आने लायक है, **'धीकुल्यासरणिषु'**।

इसका निर्णय कैसे होता है? शास्त्रकारों ने कहा है **'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये मनोगतिरविच्छिन्ना'**; यह पहचान है। परमेश्वर के जिस चरित्र का श्रवण करने से ही, सुनते ही, परमेश्वर के विषय में तुम्हारे मन की गति निरन्तर बहने लग जाये, वह तुम्हारे काम का है। मन बड़ा विचित्र पदार्थ है। लाख, लाक्षा ठोस होती है, तुम उसके ऊपर कोई भी रंग चढ़ाओ, थोडा-सा घिसो तो रंग निकल जायेगा। पक्के से पक्का रंग चढ़ाने का प्रयत्न करलो, पर उसके ऊपर रंग चढ़ेगा नहीं। यदि उस लाख को तुम गला दो, तो जब लाख गल जायेगी तब उसमें हल्दी डाल दो, कोई भी रंग डाल दो तो वह जब जमेगी तब वह रंग उसके साथ एक हो जायेगा। अब चाहे तुम उसको ब्लीचींग पाउडर से धोओ, विम से धोओ, किसी भी चीज से धोओ, अब वह रंग उतरेगा नहीं। हम लोगों का मन भी ऐसा ही है : जब तक मन ठोस है, जमा हुआ है, तब तक इसके ऊपर परमात्मा का रंग चढ़ नहीं सकता। ठोस क्यों है? विषयों के साथ एक-मेक हुआ है, इसलिए ठोस है। अतः आचार्य उदयन कहते हैं कि 'जिनके मन विषय-चिन्तन से पत्थर बन गये हैं, उनके विषय में हम केवल प्रार्थना ही कर सकते हैं, और उनके लिए हम कुछ नहीं कर सकते!' जब तक मन पिघलेगा नहीं तब तक भक्ति होगी नहीं। किसका मन किस चरित्र से पिघलेगा, किसका मन किस चरित्र से नहीं पिघलेगा--यह सभी के लिए एक जैसी बात नहीं होती। लोक में भी देखने में आता है, कोई किसी सुन्दर उपवन को देखता है तो मस्त हो जाता है, किसी बगीचे को देखता है तो प्रसन्न हो जाता है; कोई तारों को देखता है तो मस्त हो जाता है, कोई चिड़ियों को उड़ते देखता है तो मस्त हो जाता है। किस चीज़ से किसका मन पिघल जायेगा, यह नहीं कह सकते। परन्तु मन पिघलेगा, तभी उसमें कोई रंग चढ़ेगा। जिस गुण के श्रवण से, जिस चरित्र के श्रवण से मन पिघल कर उसका सभी के हृदय में रहने वाले परमात्मा की तरफ निरन्तर प्रवाह होने लग जाये, समझो की वह चरित्र उस मन के काम का है। संस्कारों के अनुरूप जब हमारे सामने अनुभव आता है, तब मन पिघलता है। गुरु इस बात की परीक्षा करता है कि किन संस्कारों से किसके मन में पिघलाव आ सकता है। हर हालत में, विषयों की जिस ठंडक से मन जमा हुआ है, उन विषयों की ठंडक को हटाना पड़ेगा। जब तक विषयों के आकार में मन ठोस है, तब तक भगवान् का आकार उसमें आ नहीं सकता।

बुद्धिरूपी नाली के अन्दर वह जल गिर कर क्या करता है? तो **'संसारभ्रमणपरितापोपशमनं दिशन्ती'** भगवान् शंभु के चरित्र की नदी तुम्हारी बुद्धि के अन्दर जाकर इस संसार के अंदर जो तुम भ्रमण करते रहे हो, घूमते रहे हो, उस भ्रमण के सन्ताप की शांति का उपाय सुझाती है। अनादि काल से आज तक इस संसार में ही भ्रमण करते रहे हो। ब्रह्मलोक से लेकर रसातल तक जाते हो, रसातल से लेकर फिर ब्रह्मलोक पर्यन्त जाते हो, इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। कभी शुभ प्रवृत्तियाँ करते हो तो उत्तम लोकों में चले जाते हो, उत्तम सुखों को प्राप्त करते हो, वहाँ जाकर फिर यदि तुम्हारी दृष्टि गड़बड़ा जाती है तो फिर नीचे गिरना पड़ता है। एक बार किसी कारण से, इन्द्र अपने पद पर नहीं था तो देवताओं ने विचार किया, कि इन्द्र के पद पर किसको लाया जाय। देखा कि नहुष सब तरह से योग्य है। नहुष को उन्होंने इन्द्र पद दे दिया, सब तरह से योग्य समझकर। मन बड़ी विचित्र चीज़ है! सामर्थ्य की प्राप्ति होते ही मन इधर-उधर जाने लगता है। इन्द्र बनकर नहुष के मन में आने लगा 'मैं इन्द्र पद पर बैठ गया तो इन्द्राणी मेरी ही पत्नी हो जानी चाहिये।' उसने इन्द्राणी को खबर भेजी कि 'अब मैं इन्द्र हो गया हूँ, अब तुम मेरी पत्नी हो गई हो।' इन्द्राणी बेचारी बड़ी घबराई कि 'राजा है, जबरदस्ती पकड़कर मँगवा भी सकता है।' इन्द्राणी

ने गुरु बृहस्पति को बुलाया और कहा ऐसी-ऐसी समस्या आ गई है। उसने तो लोग भेज दिये थे परन्तु मैंने यह कह दिया, अपनी रक्षा के लिये, कि मैं इस समय अपवित्र अवस्था में हूँ, जब इस अपवित्र अवस्था का समापन हो जायेगा तब आप जैसा कहेंगे वैसा हो जायेगा। इस तरह मैंने दो-चार दिन तो टाल दिये हैं। अब आप बतायें क्या करूँ? बृहस्पति ने विचार किया कि परिस्थिति तो बड़ी टेढ़ी हो गई, ऐसा तो सोचा ही नहीं था कि नहुष ऐसा काम भी करेगा। परन्तु अब किया क्या जाये? बृहस्पति ने उपाय निकाला। उन्होंने इन्द्र की पत्नी से कहा 'तुम उसे यह संदेश भेज दो कि 'आप ज़रूर मेरे महल में पधारें लेकिन सप्तऋषियों की पालकी के ऊपर बैठ कर आप आवें।' यही खबर भेज दी उसने। नहुष बड़ा प्रसन्न हो गया, तुरन्त सप्तऋषियों को बुलाया और कहा 'जुत जाओ मेरी पालकी में और लेकर चलो, इन्द्राणी के महल में।' राजा का हुक्म था, ऋषि लोगों ने पालकी उठाई, चलने लगे। पालकी ढोने के लिये जिन लोगों को लिया जाता है उन सबका परिमाण देखा जाता है, सब करीब-करीब एक जैसे लम्बे होवें, एक जैसे कंधे वाले होवें, तब पालकी सीधी चलेगी। ऋषि लोग कोई लम्बाई नापकर तो बने नहीं हैं! कोई वशिष्ठ जैसे लम्बे थे, कोई अगस्त्य जैसे बहुत नाटे भी थे। अब ऋषि लोग भले ही राजा की आज्ञा मान कर पालकी ढोयें, परन्तु ज़मीन पर चलते हैं तो नियम से चलते हैं। शास्त्र का नियम है **'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'** जहाँ पैर रखो वहाँ पहले आँख से अच्छी तरह देख लो कि कोई कीड़ा, मकोड़ा तो नहीं है, कोई किसी प्रकार की गंदी चीज़ तो पड़ी हुई नहीं है; इन सब चीज़ों को देखकर, इन सब चीज़ों से बचकर, तब पैर रखो। पालकी लेकर चलने वाले जब इस प्रकार से चलेंगे तो धीरे चलेंगे ही, क्योंकि देख-देख कर चलना है। कोई अकस्मात् बायीं तरफ चला जायेगा, कीड़ा आ जाये तो; कोई दायीं तरफ चला जायेगा; तो

पालकी डगमगाने लग जायेगी। जिधर नाटा आदमी होगा, उधर पालकी नीचे जायेगी।

ऋषियों द्वारा ढोयी जाती पालकी पर बैठे नहुष को बहुत असुविधा हो रही थी, उन्होंने उनसे कहा 'सम्भलकर चलो, सम्भलकर चलो।' जो सबसे नाटे थे, उनकी तरफ पालकी ज्यादा झुकी तो नहुष को बड़ा गुस्सा आया कि 'यह ठीक से नहीं चलता है, धीरे चलता है', तो कहने लगे 'जल्दी चलो, जल्दी चलो।' संस्कृत में 'जल्दी चलने' को कहते हैं **'सर्प, सर्प'** जब नहुष के कहने का प्रभाव नहीं पड़ा तो उन्हें गुस्सा आया। गीता में भगवान् ने कहा है--**'संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते'** जब किसी भी विषयभोग को तुम अपने मन में सोचने लगते हो तब उस विषय के बारे में तुम्हारे मन में दृढ़ आसक्ति हो जाती है। इस बात को आज के व्यापारी खूब समझते हैं, इसलिये खूब विज्ञापन देते रहते हैं। बहुत साल पहले बाजार में कुछ समय हॉर्लिक्स नहीं मिलता था। अखबार में लम्बा-चौड़ा, दो-तीन बार विज्ञापन निकला 'हॉर्लिक्स के ये फायदे हैं', 'हॉर्लिक्स में ये अच्छाइयाँ हैं', और सबसे नीचे एक पंक्ति होती थी 'वर्तमान में हॉर्लिक्स बाजार में मिल नहीं रहा है।' हॉर्लिक्स की कम्पनी में काम करने वाला कोई बहुत बड़ा अफसर था, हमने उससे पूछा कि 'अरे! ये इतने बड़े विज्ञापन में तुम्हारे हज़ारों रूपये खर्च होते हैं और माल तुम्हारे पास है नहीं तो यह खर्च काहे के लिये करते हो?' हम लोग तो सोचते हैं कि विज्ञापन माल बेचने के लिये किया जाता है। कहने लगा 'लम्बे समय तक हॉर्लिक्स बिकेगा नहीं तो लोग भूलने लग जायेंगे! फिर जब माल बनने लगेगा, तब आदत डालने में मुश्किल पड़ेगी। विज्ञापन के द्वारा लोगों के मन में आते रहना चाहिये, तब जब माल बनेगा तो खटाखट बिक जायेगा?' कैसे तुम्हारे मन में विषयों का चिन्तन होता रहे—इस बात को आजकल के व्यापारी खूब समझते हैं।

जिस विषय का ध्यान करोगे उससे आसक्ति होगी। जब आसक्ति होगी तो उसके लिये कामना होगी। इन्द्राणी का ध्यान करने से उनके मन में आसक्ति हुई, आसक्ति से कामना और कामना से जल्दी पहुँचना चाहता है तो '**कामात् क्रोधोऽभिजायते**' क्रोध आया। '**क्रोधात् भवति सम्मोहः**' क्रोध आने से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। आचार्य शंकर लिखते हैं कि जब मनुष्य क्रोध में होता है तब सम्मोह हो जाता है, गुरु को 'हुँ, क्या बोल रहे हो!' ऐसा दुत्कारपूर्वक बोल देता है। जब विवेक नष्ट हो जाये क्रोध से, तब याद नहीं रहता 'मैं किससे क्या बात कर रहा हूँ' 'ऋषियों के ऊपर जा रहा हूँ'—यह स्मृति नहीं रही। बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि नष्ट होकर नहुष ने ऋषि अगस्त्य को लात मारी, 'क्या करता है? बार-बार इधर-उधर करता है!' वे तो शांत रहे परन्तु वशिष्ठ ने कहा 'अरे! तू बड़ा सर्प-सर्प कर रहा है तो जा, सर्प ही हो जा!' कहाँ वह इन्द्र बना हुआ था, कहाँ सर्प होकर गिर गया!

न जाने हम लोगों मे से कौन-कौन से ऊपर के पदों पर पहुँचे होंगे, और फिर कहाँ आकर नीचे गिरे होंगे। जैसे कुएँ के अन्दर रेहट होती है; मिट्टी के भाण्डे, घड़े, पानी भरके ऊपर लाते हैं, खाली होते हैं, फिर नीचे जाते हैं; ठीक इसी प्रकार से मनुष्य लोक में आकर हम अपने कर्म, पुण्यादि को भरकर ऊपर जाते हैं, पुण्य खाली हो जाते हैं तो फिर नीचे आ जाते हैं; इस प्रकार भ्रमण चल रहा है। इस भ्रमण के अन्दर मनुष्य को बार-बार दुःख का अनुभव होता है इसलिये कहा 'परिताप'। जब दुःख का अनुभव होता है तब सोचता है कि 'मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किये जो मैं ये दुःख भोग रहा हूँ? मैंने क्यों ऐसे अशुभ कर्म किये, जो मेरी ऐसी दीन दशा हो रही है?' जब यह सोचता है तब परिताप होता है। कुछ लोग इस बात को सोचते भी हैं, अधिकतर लोग इस बात को सोचते भी नहीं हैं। इसलिये

शास्त्रकार कहते हैं कि सबसे पहले सत्पुरुषों के संग की ज़रूरत होती है जो इस चीज को समझावें, अन्यथा दुनिया की सब दूसरी चीज़ों को कारण समझते हैं, स्वयं की शिवविमुखता का कोई विचार नहीं करते। राज के कारण दुःख हो रहा है, अड़ोसी-पड़ोसी के कारण दुःख हो रहा है, आदि सब जगह मन भटकेगा, दुःख का जो प्रधान कारण है कि 'मैंने गलत काम किये, उसके कारण दुःख हो रहा है', मन उस तरफ नहीं जाता। जब परिताप होता है तब जो परमेश्वर के चरित्र का श्रवण किया हुआ है, वही परिताप का उपशमन, उसके शांति के उपाय को बतला देता है। शास्त्रकार कहते हैं कि परमेश्वर की क्षमा करने की शक्ति इतनी बड़ी है कि हम सब मिलकर के उतना पाप करने में समर्थ ही नहीं हैं! अगर हम सोचें कि 'हमने इतना पाप कर लिया कि भगवान् क्या कर सकते हैं', तो बात उससे ठीक उल्टी है, उनकी क्षमा शक्ति इतनी ज्यादा है कि हम चाहे जितने पाप करें, फिर भी उनकी क्षमा-शक्ति को कार्य करने में कुछ भी ज़ोर पड़ सके ऐसा नहीं। जब उनके चरित्र का श्रवण करते हैं तब यह समझ में आता है। शिवरात्री की कथा आती है; व्याध ने किया क्या था? खाने को नहीं मिला इसलिये भूखा था, शिकार करने के लिये चला था, अपने पीने के लिये उसने पानी भरकर रखा था। जिस पर बैठा था वह पेड़ ही बेल का था इसलिये हिलता था तो बेल-पत्र गिर जाता था, नीचे शिवलिंग के ऊपर। और इसका नतीजा क्या हुआ? कल्याण का भागी बन गया। इस चरित्र को श्रवण करें तब समझ में आता है कि हमारा जो संसार में भ्रमण का परिताप है, उसका उपशमन भगवत्कृपा से हो सकता है। अन्यथा हमेशा यही सामने आता है कि 'तुम इतने बुरे हो, कि तुम्हारे कल्याण का कोई रास्ता नहीं।' परमेश्वर के चरित्र को जब तक श्रवण नहीं करेंगे, जब तक हम सोचेगें कि हमारे कल्याण का साधन हम ही बन सकते हैं, तब तक यह संसार-भ्रमण का परिताप उपशांत होने वाला नहीं। हम अपनी सामर्थ्य

से बच जायें–यह संभव नहीं है क्योंकि हमारी सामर्थ्य हमेशा सीमित रहेगी, हमेशा परिच्छिन्न रहेगी। अनादि काल से अनन्त कल्पों के अंदर हमने सिवाय दोषों के और किया क्या है?

इसलिए आचार्य अन्यत्र लिखते हैं–'**वपुःप्रादुर्भावाद-नुमितमिदं जन्मनि पुरा, पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्**' इसके पहले किसी जन्म में हमने कभी आपको नमस्कार नहीं किया। किसी ने कहा 'आपको पता कैसे लग गया? अनेक जन्मों में कभी तो किया होगा नमस्कार?' कहते हैं 'वपुःप्रादुर्भावात्' शरीर पैदा हुआ है–इसी से पता लगता है कि इससे पहले हमने आपको कभी नमस्कार नहीं किया। शरीर की उत्पत्ति ही इस बात को बतलाती है। कई बार लोग कहते हैं 'कभी कोई पाप नहीं किया फिर मेरे ऊपर यह दुःख क्यों आया?' हम कहते हैं 'सबसे बड़ा पाप किया है, तुमने जन्म ले लिया, अगर तुमने जन्म न लिया होता तो यह दुःख तुम्हारे ऊपर न आता।' जन्म लेने का पाप तुमने किया, तब यह कैसे कहते हो कि हमने कोई पाप नहीं किया?, जन्म लिया है, इसका मतलब है तुमने पहले परमात्मा को कभी नमस्कार किया नहीं। यह अनुमान हो जाता है। क्यों? 'पुरारे!' आप पुर के 'अरि' शत्रु हैं क्योंकि यह जो शरीररूप पुर है इसको आप छुड़ाने को तैयार रहते हैं! कोई भी जीव इस साढ़े तीन हाथ के मल-मूत्र के थैले में बंद न होवें–यह आप चाहते हैं। इस जन्म में मैंने आपको नमस्कार कर लिया तो 'नमन् मुक्तः' मुक्त हो ही गया। इसलिये आगे अब शरीर मिलेगा नहीं। इस जन्म के पहले कभी आपको नमस्कार नहीं किया और इस जन्म के बाद भी कभी नमस्कार नहीं करूँगा, हे भगवान् शंकर! मेरे इन दोनों अपराधों को क्षमा कर देना। इस एक जन्म में ही हमें मौका है कि हम भगवान् शंकर को नमस्कार करें। नमस्कार का अर्थ क्या होता है? अंहकार का त्याग ही नमस्कार है। वेदों के व्याकरण के हिसाब से, प्रातिशाख्यों के हिसाब से 'नमः' का मतलब 'न मम'। मेरा कुछ भी नहीं है–बस यही नमः है। जैसे ही अहं का त्याग कर देते हैं, कि 'मैं तो शिव हूँ। शिव के सिवाय और कुछ नहीं हूँ, मेरी अपनी कुछ अलग सत्ता नहीं है', वैसे ही शिवस्वरूप में स्थिति हो जाती है। फिर आगे जन्म होवें कहाँ से! उनके चरित्र की सरिता जब हमारी बुद्धि में आती है तब हमें इस संसार के भ्रमण के परिताप को उपशम करने वाली विद्या का उपदेश देती है कि 'अरे! तू कुछ नहीं, केवल शिव है।'

'**मच्चेतोहृदभुवि वसन्ती**' वह मेरे चित्त में बस जाती है, फिर कभी क्षणमात्र को भी यह नहीं होता कि 'मैं शिव नहीं हूँ।' इसके द्वारा यह बतलाया कि अहंकार के त्याग से हम शिव *बनते* नहीं हैं, हम हमेशा शिवरूप हैं। विषयों को हम अपना मन दे देते हैं इसलिए लगता है हम शिव से अलग हो गये हैं। जब हम समझ रहे हैं 'मैं हूँ' तब भी मैं नहीं हूँ शिव ही है। भगवान् जानते थे कि शास्त्र की यह बात जीव सरलता से मानेगा ही नहीं कि 'मैं शिवरूप हूँ।' अतः उन्होंने तुमको साथ में सुषुप्ति दे दी, गहरी नींद। गहरी नींद में तुम किसी विषय की तरफ नहीं जा सकते क्योंकि इन्द्रियाँ, मन हैं ही नहीं। तब तुम्हारा अहं कहाँ गया? उस सुषुप्ति में तुम्हारा स्वरूप क्या है? याद करते हो तो यही कि आनन्द ही मेरा स्वरूप वहाँ था। गहरी नींद में प्रतिदिन तुमको यह पता लगता है कि 'मेरा स्वरूप शिवरूप ही है।' जाग्रत् में वापस तुम अहं को जब पैदा कर लेते हो तब कहते हो 'मैं अलग हूँ।' गहरी नींद में तो नहीं कहते कि 'मैं अलग हूँ।' जब तक अहं का बोझ ढोते रहते हो, तब तक दिनभर थकते रहते हो, जैसे ही अहं के बोझ को उतारा, सुषुप्ति में गये, वहाँ थकता कोई नहीं, बल्कि सारी थकावट मिट जाती है! अहं के बोझ को छोड़ा, शिव से एक हुये तो शिव ने लिपटा कर फिर ताजा कर दिया। उस शिवानंद को भूल कर

फिर जाग्रदादि में अपने अहं को पकड़ करके आगे चल देते हो। रोज यही खेल होता है--थकते हो, फिर सो जाते हो, शिव तुमको अपने से चिपकाकर फिर तुमको ठीक-ठाक करके भेजता है, तुम फिर आकर यहाँ उन्हीं विषयों की तरफ दौड़ने लगते हो। अनादि काल से यह खेल चलने पर भी उन्होंने आज तक तुमसे एक दिन भी नहीं कहा 'अरे भाई! तुम हमें बहुत परेशान करते हो, अब नहीं आओ हमारे पास।' जैसे ही जाते हो वैसे ही वे फिर तुमको चिपका लेते हैं क्योंकि तुम हो ही शिवस्वरूप।

हृदय-ह्रद में रहती हुई ऐसा करती कौन है? 'शिवानन्दलहरी'। 'ल' नाम इन्द्र का, वह ऊपर की ओर जिससे खींचता है उसे 'ल-हरी' कहते हैं। इन्द्र अर्थात् सारे संसार को स्वयं में से मानो बहा देने वाला। ऋग्वेद की ऐतरेय उपनिषद् **'इदं द्रावयतीति'** इन्द्र शब्द का निरुक्त बताती है। हालाँकि इस तरह 'इदन्द्र' शब्द बनता है फिर भी क्योंकि **'परोक्षप्रिया इव हि देवाः'** देवता मानो पसंद करते हैं कि उन्हें सीधे ही शब्द द्वारा विषय न किया जाये, उनके वाचक शब्द में थोड़ा-बहुत अंतर लाकर बोला जाये तो उन्हें इज्ज़त मिली लगती है, इसलिये इदन्द्र की जगह लोग इन्द्र कहते हैं। हर हालत में जगत्कारण परमात्मा इन्द्र है। यद्यपि अन्य देवता तो उनके सीधा नाम लेने से भी अप्रसन्न-से होते हैं तथापि देवाधिदेव महादेव की विचित्र लीला है! उन्हें कोई 'महादेव' पुकार दे तो इतने प्रसन्न हो जाते हैं कि सर्वस्व प्रदान कर देते हैं, यहाँ तक कि अगर एक से ज़्यादा बार पुकारे तो वे खुद को उसका ऋणी मानते हैं! उन इन्द्र द्वारा जो अपनी ओर आकृष्ट है वही शिवानन्द-ल-हरी है।।२।।

(३)

भगवान् शंकर के चरित्र की जो नदी है वह समग्र दोषों को निवृत्त करती हुई हमारे हृदय में आनन्द की लहरी को उठाती है। लहरी का तात्पर्य बतलाया था कि जो परमेश्वर के द्वारा ऊपर उठायी जाये। जो परमात्मा उसको ऊपर उठाता है, उसका निरूपण करते हैं--

त्रयीवेद्यं हृद्यं त्रिपुरहरमाद्यं त्रिनयनं,
जटाभारोदारं चलदुरगहारं मृगधरम् ।
महादेवं देवं मयि सदयभावं पशुपतिं,
चिदालम्बं साम्बं शिवमतिविडम्बं हृदि भजे ।।३।।

'त्रयीवेद्यम्'। परमेश्वर के स्वरूप का पता कहाँ से लगता है, ज्ञान कहाँ से होता है? वेदों के द्वारा ही उसका ज्ञान होता है। वेदों को छोड़कर कहीं भी परमात्मा का निरूपण नहीं है। इसमें एक बात याद रखना; जब विज्ञान पढ़ाते हैं तो कहते हैं 'यह पिथागोरस की थ्योरम है'। पिथागोरस ने तो अपने ज़माने की ग्रीक भाषा में ही लिखा पर उसी बात को हम हिन्दी में भी कहें तो कहलायेगी वह उसी की थ्योरम। न्यूटन ने प्राचीन अंग्रेज़ी में अपने नियमों को लिखा। हम पढ़ायेंगे तो उस भाषा में नहीं, आज की अंग्रेजी में पढ़ायेंगे, फिर भी यही कहा जायेगा कि 'यह न्यूटन का सिद्धान्त है।' इसी प्रकार चाहे उस तत्त्व को स्मृतियों में बताया गया, पुराणों में बताया गया, भिन्न-भिन्न भाषाओं में बताया गया, परन्तु रहेगा तो त्रयीवेद्य ही क्योंकि उसका ज्ञान वेदों से हुआ। अतः जब याज्ञवल्क्य महर्षि ने विदग्ध शाकल्य से परमेश्वर के बारे में पूछा तब परमेश्वर को

'औपनिषद पुरुष' कहा, वह पूर्ण तत्त्व जिसका केवल उपनिषदों से ज्ञान होता है।

शाकल्य जनक का पुरोहित था। बड़ा भारी कर्मकाण्डी था, परन्तु कर्मकाण्डी होने के नाते ही परमेश्वर के विषय में कुछ नहीं जानता था! कर्मकाण्डी को प्रायः परमेश्वर पर, 'परमेश्वर है' इतना निश्चय भी नहीं होता। यथाकथंचित् यदि वह कहता है 'परमेश्वर है', तो भी समझता है, वह कुछ काम करने वाला नहीं है, बेकार है। कर्मकाण्डी देवताओं को तो मान लेता है क्योंकि देवताओं की पूजा, देवताओं का अनुष्ठान करके मंत्र के बल से देवताओं से काम कराया जा सकता है। परन्तु परमेश्वर को तुम मंत्र के बल से अपने अधीन कर नहीं सकते। कोई भी ऐसा कर्म नहीं है जिसके द्वारा यह कहा जा सके कि इस कर्म से परमेश्वर तुम्हारे अधीन हो जायेंगे। देवता तो मंत्र के अधीन हो जायेंगे परन्तु परमेश्वर होगा नहीं। कर्मकाण्डी मानता है कि कर्म ही फल दे सकता है, कर्म के बिना परमेश्वर भी फल नहीं दे सकता। इसका मतलब है कि कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्त्तुं समर्थ परमेश्वर को वह मानता नहीं। परमेश्वर तो तभी ईश्वर अर्थात् सामर्थ्यवाला हो सकता है जब तुम्हारे कर्मानुसार भी फल देवे, बिना कर्मानुसार भी फल देवे। किन्तु यह बात कर्मकाण्डी को समझ में नहीं आ सकती, अतः या वह परमेश्वर को मानता ही नहीं है कि कर्म ही फल दे देगा, परमेश्वर की क्या जरूरत है; और यदि मानता है तो ऐसा जो कुछ कर नहीं सकता। यदि कर्म के अधीन फल देता है तो वह देवता ही हो सकता है। अतः कर्मकाण्डी वेदों के कर्मभाग का तो अध्ययन करते हैं, पर उपनिषदों को व्यर्थ समझते हैं। कहते हैं कि उपनिषद् वेदों का भाग तो है, आर्यसमाजियों की तरह यह तो नहीं कहते कि उपनिषद् वेद है ही नहीं, लेकिन कर्मकाण्डी कहता है, 'जैसे ज़मीन में कहीं-कहीं ऊषर भाग होता है, जहाँ कोई खेती पैदा नहीं होती,

इसी तरह वेद ज़मीन की तरह व्यापक हैं, उनमें भी ऊषर भाग उपनिषद् है!' निष्फल होने पर भी वेद का हिस्सा तो मान लेता है। नेहरूजी ने तो ऊषर समझकर तिब्बत चीन को ही दे दिया! नेहरूजी ने जब तिब्बत चीन को बखशीश कर दिया, तब संसद में बड़ा हल्ला मचा था। तो नेहरूजी ने कहा 'अरे भाई! उस तिब्बत में कुछ पैदा तो होता नहीं, उसको रख कर क्या करते? वहाँ उपज तो कुछ है ही नहीं', तब आचार्य कृपलानी ने अपनी टोपी खोल कर अपने सिर को दिखाया और कहा 'कल आप कहोगे की तुम्हारे सिर पर कुछ नहीं उगता है तो यह भी चीन को दे दो!' परमेश्वर के विषय में तो पता तभी लगे जब उपनिषदों वाले हिस्से को देखें।

शाकल्य कर्मकाण्ड में तो बहुत गतिवाला था परन्तु परमात्मा के विषय में सर्वथा कुछ नहीं जानता था। जनक ने सभा की थी कि परमात्मा के विषय में जानने वाले लोग आयें। निमन्त्रण तो ब्रह्मवेत्ताओं को था, कि आकर परमात्म-संबंधी विचार हो। शाकल्य घर का पण्डित था, पुरोहित था तो ब्राह्मणों की सभा में उसको उपस्थित होना ही था, हुआ। कर्मकाण्डी होने से अपनी दृष्टि से देख रहा था कि बाकी सब ब्रह्मवेत्ताओं की अपेक्षा याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता सिद्ध हो रही है। विचार तो परमात्म-संबंधी चल रहा था। शाकल्य ने सोचा 'अरे! कहीं ऐसा तो नहीं है कि याज्ञवल्क्य से प्रभावित होकर जनक इसी को बना दें अपना पुरोहित।' बाकी सब लोग याज्ञवल्क्य को श्रेष्ठ स्वीकार कर चुके थे। उस समय सबसे बड़ी ब्रह्मवेत्ता थी गार्गी, उसको भी जब उन्होंने पूरा जवाब दे दिया, तब गार्गी ने कहा 'अब आप लोग आगे इनसे कोई बात मत करो, इनके जैसा कोई ब्रह्मवेत्ता है नहीं, अतः हम लोगो को इसे स्वीकार कर लेना चाहिये। मैंने इनसे जो प्रश्न पूछा था, उसका जवाब इन्होंने जिस ढंग से दिया है, उस ढंग से देने वाला और कोई नहीं हैं।' सबने स्वीकार

कर लिया। पर शाकल्य को बड़ा खटका। तब शाकल्य खड़ा हो गया, बोला, 'मैं बात करता हूँ।' शाकल्य ने कर्मकाण्ड के कई प्रश्न पूछे। याज्ञवल्क्य ऐसे थे जिनको ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड सबका पूरा ज्ञान था, उनका जीवन बड़ा विचित्र था। वे अपने गुरु के पास जाकर पढ़ने वालों में सबसे तेज़ तो थे ही, गुरु उन पर प्रसन्न भी रहते थे। उन्हीं दिनों किसी कारण से गुरु से कोई पाप हो गया। गुरुजी ने सब शिष्यों को बुला कर कहा, 'मुझसे यह दोष हो गया है, तो आप लोग सब बाँट करके इस पाप के फल को भी भोगलो, आप लोगों में बाँट देता हूँ। अन्यथा, बड़ा पाप है, अकेले मुझे भोगना पड़ेगा।' शिष्यों ने कहा, 'जो आपकी आज्ञा, हम लोग भोग लेंगे, कोई बात नहीं है।' याज्ञवल्क्य ने खड़े होकर कहा, 'गुरुजी! ये सब बेचारे शिष्य बड़े कमज़ोर हैं, ये सभी तकलीफ भोगेंगे; आप अपना पाप मुझे ही दे दीजिये, मैं अकेला ही भोग लूँगा।' याज्ञवल्क्य ने तो इसलिये कहा था कि साथियों को तकलीफ नहीं भोगनी पड़े, परन्तु गुरुजी की उस पाप के कारण बुद्धि खराब थी। गुरुजी ने सोचा, 'यह बड़ा भारी घमंड प्रकट कर रहा है; जिस पाप के फल को भोगने से मैं डर रहा हूँ, उसको यह कहता है 'मैं अकेला ही भोग लूँगा', इसका मतलब यह कि यह स्वयं को मुझसे भी बड़ा समझ रहा है।' उन्होंने कहा 'अरे! तू इतना घमंडी है, जो मैंने तुझे विद्या दी है वह सब मुझे वापस कर दे, आज से तू मेरा चेला नहीं है, जो पढ़ा है वह सब वापस कर दे।' याज्ञवल्क्य महर्षि क्या कहते! गुरुजी की आज्ञा थी, तो उन्होंने अपनी सारी विद्या निकाल कर अपने से अलग कर दी, विद्याहीन हो गये।

वहाँ से आये तो सोचने लगे, 'आया तो पढ़ने था, जा रहा हूँ वापस मूर्ख का मूर्ख, परन्तु अब मैं किसी दूसरे मनुष्य से नहीं पढूँगा। आदमी का कोई ठिकाना नहीं रहता है, कब उसकी बुद्धि खराब हो जाये। अब किसी मनुष्य से नहीं पढूँगा। किससे पढूँ? मैं अब भगवान् सूर्य से ही पढूँगा क्योंकि वे वेद के प्रवर्तक हैं।' सूर्य के निमित्त से उन्होंने तपस्या की, तपस्या के फलस्वरूप सूर्य प्रकट हुए, कहा 'वरदान माँग लो।' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'आप मुझे वेद पढ़ा दीजिये।' सूर्य ने कहा 'भाई! मैं तो इक्कीस हजार छह सौ योजन की गति से चलता हूँ, मैं कहाँ तुमको बैठकर पढ़ा सकूँगा, मुझे तो हमेशा चलते रहना पड़ता है।' याज्ञवल्क्य ने कहा 'जी मैं भी उसी गति से चलूँगा। जैसे आप चलते हैं उसी गति से मैं अपनी तपस्या से चल लूँगा। आप पढ़ा दीजिये।' सूर्य ने कहा 'पढ़ने वाले को सामने बैठना पड़ता है, साथ चलने से तो काम होगा नहीं' उसने कहा आप पढ़ाइये, उलटा चलूँगा, मतलब मुँह आपके सामने रहेगा और पैर पीछे की ओर चलाऊँगा। उतनी तेज़ गति से भी चलूँगा और पीछे की तरफ भी चलता रहूँगा।' आप लोग जानते ही हैं कि पीछे की तरफ चलना मुश्किल होता है। तब सूर्य ने कहा 'अच्छा, मैं तुमको पढ़ा दूँगा।' सूर्य ने उनको पहले तो सारे कर्मकाण्ड का उपदेश दिया। जिस-जिस प्रसंग को सूर्य एक बार पढ़ाते थे याज्ञवल्क्य को वह याद हो जाता था, और तुरन्त वापस उनको सुना देते थे, अतः उनसे प्रसन्न होकर पूर्ण कर्मकाण्ड के बाद उपनिषद् का भी, ज्ञानकाण्ड का भी, सारा उपदेश दिया। ज्ञानकाण्ड का उपदेश मिलने पर याज्ञवल्क्य समझ गये, 'अरे! संसार के अन्दर तो कोई वास्तविकता है नहीं, अतः केवल परमात्म–चिन्तन में ही रहना है।' जब यह बात कही तो सूर्य ने कहा, 'देख भाई! मैंने तुझे कर्मकाण्ड भी पढ़ाया है, इसलिये इसकी परम्परा भी चलाना तुम्हारा फर्ज है। पहले कर्मकाण्ड के विद्वानों को पढ़ा करके तैयार करो, उसके बाद ज्ञान-काण्ड को पढ़ाना, दोनों की मर्यादा रखनी है।' तब बिना किसी इच्छा के भी उन्होंने आकर विद्यार्थियों को पढ़ाना शुरू किया।

पुराने ज़माने में अध्ययन का प्रकार यह होता था, कि गुरुजी के यहाँ रहते थे, खाने-पीने का सब इंतजाम गुरुजी करते थे। आज की तरह उलटा मामला नहीं था कि अध्यापक को विद्यार्थी वेतन दें! विद्यार्थी फीस दें तब अध्यापकों को वेतन मिले। जब याज्ञवल्क्य ने सुना कि जनक बहुत बड़ा इनाम देने वाला है, तब वहाँ गये और कहा भी कि 'आश्रम के लिये ज़रूरत है गायों की, इसलिये आ गया मैं।' सूर्य ने याज्ञवल्क्य को एक बात कही थी कि, 'मैंने तुमको जो ज्ञान दिया है, इस ज्ञान का यदि कोई अपमान करेगा तो मैं उसको क्षमा करूँगा नहीं।' शाकल्य ने सारे कर्मकाण्ड के विषयों में प्रश्न पूछे, उनका सारा जवाब याज्ञवल्क्य ने दिया, ब्रह्मवेत्ताओं ने तो आपस में बातचीत की दृष्टि से बात समझने के लिए पूछा था, शाकल्य अपमानित करने के लिये प्रश्न कर रहा था। होने लगा विद्या का अपमान तो याज्ञवल्क्य देख रहे थे कि सूर्य को क्रोध आ रहा है; उन्होंने दो-तीन बार शाकल्य से कहा 'देख, तू इस प्रकार से बिना समझे हुये प्रश्न करता जा रहा है, तो तेरा नुकसान होगा। दूसरे सब ब्रह्मवेत्ता बैठे हैं, उनकी तरफ देख, वे तेरी तरफ कैसे नाराज़गी से देख रहे हैं।' शाकल्य ने कहा 'मुझे क्या देखना है!' अंत में याज्ञवल्क्य ने कहा 'तूने इतने प्रश्न पूछे हैं, मैं तो एक ही प्रश्न पूछता हूँ। उपनिषदों से ही जिसका ज्ञान होता है, उस पुरुष के बारे में पूछता हूँ। अगर तू जानता है तो ठीक है और नहीं जानता है तो तूने ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में आकर जो खलल डाला है, इसके बदले में तू मारा जायेगा।' शाकल्य तो जानता नहीं था, अतः वह मरा और सूर्य भगवान् के कोप के कारण उसके शव की भी दुर्गति हुई। जब शव लेकर शिष्य लोग जा रहे थे, तब चोरों ने समझा कि 'राजा का पुरोहित जा रहा है, तो बड़ा भारी माल लेकर जा रहा होगा', अतः लूटा तो जो शव था वह भी दुर्गति को प्राप्त हुआ।

उस प्रसंग में आये 'औपनिषद'-शब्द से भी निर्णीत है कि वहीं उसका पता लगता है अर्थात् वह त्रयीवेद्य है। स्कन्दपुराण के अन्दर बतलाया है **'श्रुतिर्बलीयसी प्रोक्ता प्रमाणानां सुलोचने'**, भगवान् शंकर पार्वती से कहते हैं कि परमेश्वर के विषय में ज्ञान कराने वाले जितने प्रमाण हैं उनमें सबसे ज़्यादा बल वाली श्रुति ही है, वेद ही हैं। अतः परमेश्वर के चरित्रों का प्रधान उद्‌गम स्रोत त्रयी है, वेद ही है। उसके द्वारा ही वह वेद्य है, उसका पता लगता है।

त्रयी से पता लगता है, परन्तु पता तो हमें लगेगा, वेद्य तो हमारा होगा। पता लगने का एक ढंग है परोक्ष। काठमाण्डौ से हवाई जहाज उड़ा और उसका अपहरण हो गया, कन्धार पहुँच गया। यह किसी ने रेडियो से सुन लिया होगा, किसी ने टेलिविजन पर देख लिया होगा, किसी ने अखबार में पढ़ लिया होगा; बस इतना ही न। अनुभव किसको है? सचमुच में गया या नहीं, यह तो जो उसके अन्दर बैठे थे उनको पता है, या जो उनको छुड़ाकर लाये उनको पता है। हम लोग जानते हैं परन्तु परोक्ष रूप से जानते हैं, किसी दूसरे ने जाना—इस बात को जानते हैं। हम खुद नहीं जान रहे हैं, अखबार वाले ने जाना, रेडियो वाले ने जाना, उस पर हमारा भरोसा है, परन्तु हमने स्वयं नहीं जाना। वेद कहता है, वेद पर हमारी पूर्ण श्रद्धा है, इसलिये वेद ठीक कहता है, परन्तु हम स्वयं तब जानेंगे जब हमारा अपना अनुभव होगा। वेद ने जो बात कही वह सच्ची है, इसमें हमको कोई संदेह नहीं है, हम श्रद्धा वाले हैं, परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि यह *हमारा* ज्ञान है; हमारा वेद्य तो वह तब होगा जब हम उसको साक्षात् रूप से जानें। साक्षात्कार से प्राप्य दृढता का वर्णन केनोपनिषद् में आता है : शिष्य सिंह-सा गर्जकर गुरु से कहता है 'जो बात मैं कह रहा हूँ वह ठीक है, और इस बात को यदि आप नहीं समझ रहे हैं तो आपने भी नहीं जाना! मैंने

ठीक जाना है।' जो अपना अनुभव है उसके बारे में निःसंदेह दृढता होती है। हमारे सिर में दर्द होता है, हमको लोग ले गये, कैट-स्कैन कराया, एम.आर.आई. कराया, खून टेस्ट कराया, पेशाब-टट्टी सब टेस्ट कराया; अंत में डाक्टर कह देते हैं 'इनको सिर में कोई दर्द नहीं है, कोई तकलीफ नहीं है', तो क्या हमारी तकलीफ दूर हो जायेगी? हमारे सिर में दर्द है वह तो रहेगा ही चाहे तुम्हारे सारे परीक्षण कुछ भी कह देवें। परीक्षण में दर्द तो आना नहीं है। ठीक इसी प्रकार से कोई बड़ी से बड़ी युक्तियाँ हमारे सामने रख देगा, परन्तु हमारा जब आत्मानुभव हुआ है, तो भले ही हम तुमको जवाब न दे सकें, तुम्हारे तर्क का खण्डन न कर सकें, लेकिन हमें पता है कि बात तो ऐसी ही है। तब हम कह सकते हैं कि हमारा वेद्य है। इसलिये यहाँ कहा है त्रयीवेद्य और जब स्तुति का अंत होने जायेगा, तब निन्यानबेवें श्लोक में कहेंगे **'मम वेद्योसि पुरतः'** 'मैं आपको अपने सामने जान रहा हूँ।' तो यहाँ त्रयीवेद्य कहा है क्योंकि अभी 'मम वेद्य' नहीं हुआ है, वह तो स्तुति के अंत में होना है।

जब त्रयी से हम उसको जानते हैं तब सबसे पहले जो चीज़ हमें आकृष्ट करती है वह है 'हृद्यम्'। वेद जिस परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं वह हृद्य है। जो हृदय को प्रसन्न कर दे, हृदय को गुदगुदा दे, उसको कहते हैं 'हृद्य'। जिस परमात्मा का वेद प्रतिपादन करता है वह परमात्मा तुम्हारे हृदय को अत्यन्त प्रिय लगने वाला होता है। जो परमात्मा का हृद्य रूप है, हृदय से प्रिय लगने वाला रूप है वही शास्त्र का प्रतिपाद्य है। बन्धन का स्वरूप है अविद्या, काम, कर्म। मैं अपने स्वरूप को नहीं जानता और संसार के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता, दोनों चीज़ें नहीं जानता, इस अज्ञान के कारण ही मेरे मन में कामना होती है। जोधपुर के अन्दर एक लड़का है, वह बिना कुछ काँच आदि रखे हुए एक चावल के दाने के ऊपर

महिम्नःस्तोत्र का एक पूरा श्लोक लिख देता है! उसको बाँचने के लिये तुमको चाहिये माइक्रोस्कोप, तभी उन छोटे अक्षरों को बाँच सकोगे, लेकिन उसको लिखने के लिये नहीं चाहिये, वैसे ही लिख देता है। परन्तु वह दही नहीं खा सकता क्योंकि दही के अन्दर उसको कुलबुलाती हुई चीज़ें दीखती हैं! हम लोग तो माइक्रोस्कोप से देखें तो दिखेंगी, परन्तु उसकी आँखों से दीखती हैं, तो दही खा नहीं सकता। हमारी आँख नहीं देख सकती परन्तु किसी की आँख देख भी सकती है। क्योंकि उसकी आँख दही में उन पदार्थों को देख सकती है, इसलिये वह कभी दही खाने की कामना नहीं करता। परोस दो, तब भी नहीं खायेगा, कहेगा 'इसको हटा दो।' इसी प्रकार से अज्ञान के कारण जब तक हमको संसार दीख रहा है तब तक तो उसकी कामना होती है, परन्तु जब संसार का स्वरूप समझ में आता है तब उसकी अत्यन्त वितृष्णा हो जाती है, कुछ भी ऐसा नहीं लगता जो चाहा जाये। संसार के स्वरूप को नहीं जानते इसलिए उसकी कामना; अपने स्वरूप को नहीं जानते इसलिए शरीर और मन, जो मुझसे भिन्न हैं, उन्हें प्रिय लगने वाली चीज़ की हम कामना करते हैं। अच्छा तो लगेगा शरीर को, पर कामना हम करते हैं, परेशान हम हैं। ऐसे ही चाहिये तो मन को, परेशान हम हो रहे हैं। अपने को नहीं जानने से और संसार को नहीं जानने से कामना होती है। जब कामना होती है तो उसकी पूर्ति के लिये कर्म करते हैं। कर्म कभी-कभी पुण्य हो गया तो सुख दे देता है और पाप हो गया तो दुःख देता है। अविद्या, काम, कर्म ये बन्धन का स्वरूप है।

इससे ठीक भिन्न ज्ञान, इच्छा और क्रिया हैं। जो चीज़ जैसी है उसको वैसा नहीं जानना तो अज्ञान है, अविद्या; है वह भी 'जानना' ही। और जो चीज़ जैसी है उसको वैसा जानना, ज्ञान कहा जाता है, विद्या कहा जाता है। लोक में भी रस्सी

को जो रस्सी जानता है, उसे कहते हैं, 'इसको पता है, यह क्या है'; रस्सी को जो साँप देखता है, देख वह भी रहा है, परन्तु उसको संसार में भी कोई 'ज्ञानी' नहीं कहते हैं, यही कहते हैं 'ये भ्रम में है।' अविद्या-काल में तो न हम यह जानते थे कि हम कौन हैं, और न यह जानते थे कि संसार क्या है। अब हो गई विद्या, अतः हम अपने को भी जानते हैं और संसार की असलियत भी जानते हैं। अतः ज्ञान जब हो जाता है तब चूँकि यह सारा संसार परमात्मरूप है इसलिये इस परमात्मरूप के साथ हमको प्रेम होता है, फिर यह हृद्य है। उसके पहले तो यह हमको भटकाने वाला है। अतः इच्छा है, कामना नहीं है, क्योंकि किसी विषय को नहीं चाहते हैं। परमात्मा है इतना हृद्य कि, जब उसको जानते हैं तब उसकी इच्छा हमें चारों तरफ से घेर लेती है। इसलिये किसी भाषा के कवि ने भी कहा है कि जैसे कामी पुरुष को कामिनी प्रिय होती है, लोभी पुरुष को धन प्रिय होता है, ऐसे मुझे परमेश्वर प्रिय है। जैसे अविद्या से कामना वैसे विद्या के साथ इच्छा। इच्छा क्यों होती है? क्योंकि वह 'हृद्य' है इसलिये। अतः वेदों के ज्ञान से तुम आँखें बंद नहीं करते। वेदों के ज्ञान से जब परमात्मा को पहचानते हो तब 'आँख न मूँदूँ, कान न रूँदूँ, हँस-हँस रूप निहारूँ।' इसके बाद जितनी क्रिया होती है, वह कर्म नहीं रहता, किसी फल की इच्छा से नहीं होता है। चूँकि परमात्मा हृद्य है इसलिये जो प्राणों से भी प्रिय होता है, उसके अनुरूप क्रिया बिना किये तुम रह ही नहीं सकते, किसी फल की इच्छा से नहीं करते हो। तब ज्ञान, इच्छा, क्रिया की स्थिति है। यह तो है तुमको मुक्त करने का रास्ता, और अविद्या, काम, कर्म--ये हैं बंधन का रास्ता।

सारे वेदों के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व भगवान् शंकर हैं। सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी को भगवान् शंकर ने वेद का उपदेश दिया। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्दर लिखा है **'यो ब्रह्माणं विदधाति**

पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' परम महेश्वर पहले ब्रह्माजी को बनाते हैं; फिर उस ब्रह्मा को वेद का उपदेश देते हैं। इसीलिये महर्षि पतंजलि ने भी कहा **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**। भगवान् शंकर उनके भी गुरु हैं जो प्राचीन से प्राचीन गुरु हुए। ब्रह्माजी ने विचार किया : वेद में प्रत्येक मंत्र का देवता बताया है, तो नियम है प्रत्येक मंत्र का ऋषि कौन है, देवता कौन है, छन्द कौन-सा है और विनियोग क्या है--प्रत्येक मंत्र की चारों चीज़ों को जानकर तब वेद के मंत्र का जप किया जाता है। इसका ज्ञान आवश्यक क्यों है? ऋषि ने इसका साक्षात्कार किया, अर्थात् जब हम ऋषि को जानते हैं तब पता लगता है कि जब हम वैसे बनेंगे तब हमें मंत्र का साक्षात्कार होगा। ऋषि का ज्ञान साधक के बारे में ज्ञान है। हम लोगों के सनातन धर्म में और संसार के अन्य मत-मतान्तरों में एक आधारभूत भेद यह है कि और तो कहते हैं 'अमुक की बात मान लो', जबकि हम लोग कहते हैं 'तुम बात तब तक न मानो जब तक तुम उसका स्वयं साक्षात्कार न कर लो। परन्तु जब तुम खुद साक्षात्कार करोगे तभी सचमुच में तुमने उस चीज़ को समझा है।' मुसलमान कहते हैं 'मोहम्मद साहब ने यह कहा इसको तुम मान लो।' आगे वे यह नहीं कहते कि 'मोहम्मद साहब ने जो जान लिया वह तुम जान लो।' वे तो बस एक मोहम्मद साहब ही हुए या एक ईसा साहब ही हुए जिन्हें वह ज्ञान मिला। इससे ठीक विपरीत, सनातनी कहता है 'उस तत्त्व को हम खुद जानें तभी वह हमें लाभ देगा।' अतः हर चीज़ को अनुभव में लाये बिना सनातनी को संतोष नहीं है। उसका मानना है कि तत्त्व मेरे अनुभव का विषय बनना चाहिये। कब बनेगा? जब हम उस ऋषि जैसे बनेंगे। ऋषि के ज्ञान से पता लगेगा की क्या बनें कि हमें मंत्र के तत्त्व का पता लगे। जिस चीज़ का पता लगेगा उसको देवता कहते हैं। मंत्र के द्वारा जिसकी हमें प्राप्ति होगी

वही उसका देवता है। छदी छादने अर्थात् ढाँकना अर्थवाले धातु से छन्द शब्द बनता है, छन्द से पता लगता है कि उस मंत्र का रहस्य किस प्रकार इसमें आच्छादित किया हुआ है, ढाँका हुआ है। तब विनियोग कि इसको किस उद्देश्य से प्रयोग में लाया जाता है।

ब्रह्माजी सोचने लगे की एक-एक मंत्र के तो एक-एक देवता हैं, सारे वेद का भी कोई देवता है क्या? तब उन्होंने एक बड़ा भारी यज्ञ किया, उस यज्ञ के अन्दर वेद के एक लाख मंत्रों की आहुतियाँ दीं। जब वह यज्ञ समाप्त हुआ। तब उसमें से भगवान् शंकर की सोने की नटराज मूर्ति निकली, जो अभी भी चिदम्बरम् में प्रतिष्ठापित है। मूल मूर्ति वह है, बाकी तो सब उसकी नकल होती हैं। अतः सारे वेदों का वेद्य, सारे वेदों के द्वारा जिसको बताया गया वह भगवान् शंकर की नटराज मूर्ति है। परमेश्वर का नृत्य यह सारा ब्रह्माण्ड है--इस बात को इससे प्रकट किया भगवान् शंकर ने। अतः गीता कहती है **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** सारे वेदों के द्वारा एकमात्र मेरा ही प्रतिपादन किया है। सारे वेद किसको बतलाते हैं? परमेश्वर को ही बतलाते हैं। अतः यहाँ कहा 'त्रयीवेद्यं' सारे वेदों के द्वारा वे ही वेद्य हैं। फिर मंत्रों का भेद क्यों है? एक मंत्र से ही उसको क्यों नहीं जान लेते? यह भी नटराज मूर्ति के द्वारा बतला दिया। मनुष्य नृत्य करेगा तो मनुष्य वही है परन्तु नृत्य के अन्दर उसके शरीर से अलग-अलग क्रियाएँ होंगी। हाथ की अलग मुद्राएँ होंगी, पैर की अलग मुद्राएँ होंगी, आँख, सिर आदि सब चीज़ें अलग-अलग भंगिमाओं वाली होंगी। आदमी वही रहेगा। परमेश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों को प्रकट करने वाले अलग-अलग मंत्र हो गये। अतः चारों वेदों के ऊपर भाष्य लिखने वाले आचार्य सायण ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ में कहते हैं **'सर्वैः परमेश्वर एक एव हूयते'** इन्द्र, वरुण, मित्र इत्यादि अनेक देवताओं के नाम से एकमात्र परमेश्वर ही बुलाया, पूजा जाता है। आहुतियाँ दे तो अलग-अलग देवताओं के नाम से रहे हैं, लेकिन सब देवता हैं तो परमेश्वर की शक्ति इसलिए वस्तुतः परमेश्वर को ही दे रहे हैं। ठीक जिस प्रकार से हम तुम्हारी अँगुली में अँगूठी पहना दें, भुजदण्ड के अन्दर अनंत पहना दें, गले में माला पहनावें, कान में कुण्डल पहनावें, कमर में करधनी पहनावें, पैर में पाँयजेब पहनावें, सिर के ऊपर मुकुट पहनावें; सारे गहने अलग-अलग हैं। परन्तु सभी के द्वारा शृंगार तो तुम्हारा ही कर रहे हैं। करधनी को सिर के ऊपर नहीं लपेट देंगे, या मुकुट को पैर में तो नहीं पहना देंगे, लेकिन पहना तुमको रहे हैं, तुम एक हो। इसी प्रकार परमेश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों को अपने में प्रकट करने के लिए भिन्न-भिन्न मंत्रों का विनियोग है परन्तु उन सबके द्वारा प्रकट तो परमेश्वर ही हो रहा है। अतः कहा 'त्रयीवेद्यम्'।

ज्ञेय परमात्मा का ज्ञानस्वरूप वेद से पता लगता है। सारे संसार के तत्त्वों को परमेश्वर ने वेद में प्रकट किया है। इसीलिये आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य में लिखते हैं कि ब्रह्मलोक से लेकर रसातल लोक तक की सारी बातों को जिन्होंने प्रकट किया, उनकी सर्वज्ञता के बारे में कोई प्रश्न ही कैसे उठ सकता हैं? आगे आचार्य शंकर एक और बात कहते हैं : कोई भी व्यक्ति, अपना *सारा* ज्ञान किसी ग्रंथ में नहीं लिख सकता। अपने ज्ञान का हिस्सा ही प्रकट करता है, जो-कुछ जानता है वह सारा का सारा नहीं लिख सकता। अतः जब ईश्वर ने वेद को प्रकट किया और उसी में हम जिसको सारा ज्ञान समझते हैं वह आ गया, तो वे स्वयं उससे भी अधिक जानने वाले ही हैं। वेद को जो पूरा जाने, वही हमारे लिये सर्वज्ञ है। परन्तु जिन्होंने वेद को प्रकट किया, वे तो उससे भी बहुत अधिक जानने वाले हैं, उनकी सर्वज्ञता का क्या कहना! 'त्रयीवेद्यं' के द्वारा उनकी ज्ञान-शक्ति को कहा।

और वह तत्त्व कैसा है? 'हृद्यं' है। हृदय को अत्यन्त प्रिय है। इसके द्वारा इच्छा-शक्ति को भी कह दिया। ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, इनके बाद आगे 'त्रिपुरहरं' उनकी क्रियाशक्ति को बतलाता है। उनकी क्रिया क्या है? तीनों पुरों का हरण करलेते हैं--यह उनकी किया है। त्रिपुरहर कह कर यह बता रहे हैं कि जैसे अनेक मंत्रों द्वारा, अनेक शक्तियों के द्वारा प्रकट होने पर भी अन्तिम तात्पर्य परमेश्वर है, अवान्तर तात्पर्य भले ही दूसरे भी हों, इसी प्रकार से यद्यपि परमेश्वर तुमको अनन्त चीज़ें देते हैं परन्तु उन सब चीज़ों को देने का उनका अन्तिम उद्देश्य क्या है, क्या वस्तुतः तुमको देना चाहते हैं? तुमको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों से छुड़ा देना, चाहते हैं, तुम्हारी कैवल्य मुक्ति--यही उनकी सारी क्रियाओं का अंतिम उद्देश्य है। जिसको स्वयं अपने लिये कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती वह यदि कर्म कर रहा है तो किसी दूसरे के लिये कर रहा है। गीता में इसीलिये कहा **'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि'** 'न अनवाप्तव्यं' 'कोई ऐसी चीज़ नहीं जो मुझे प्राप्त न हो। कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसको मैं प्राप्त करने के योग्य समझूँ। फिर भी मैं काम करता ही रहता हूँ।' कोई सोचेगा कि कभी कदाचित् कर लेते होंगे; अतः भगवान् ने जोड़ दिया--

'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।'
'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।।'

जब आदमी थक जाता है, लेकिन उसको बिछौना मिलता नहीं अतः सुनने को बैठा है; तुम्हारी बात सुन रहा है। बिछौना दो तब तो सो जाये। बिछौना दिया नहीं तुमने, तो बैठा हुआ है। तुम्हारी बात आधी सुनता है, आधी नहीं सुनता। उस अवस्था को 'तंद्रा' कहते हैं। सोया नहीं है इसीलिये नींद भी नहीं है; पर उसकी सारी इन्द्रियाँ और मन जाग्रत् भी नहीं हैं, उस अवस्था को तंद्रा कहते हैं। परमेश्वर ऐसा नहीं है कि कभी-कदाचित थोड़ा काम कर लिया; बिना तंद्रा के उसे कार्यरत रहना पड़ता है। निद्रा तो आगे की चीज़ है। शास्त्रकार कहते हैं **'अस्य च सुप्तं महाप्रलयः'** वह सोता है तब महाप्रलय हो जाती है। सृष्टि के दौरान भगवान् सो तो नहीं ही सकते, तन्द्रा में भी नहीं रह सकते वरन् कर्म ही करते रहते हैं। इसमें हेतु भी बताते हैं 'यदि मैं ऐसा न करूँ तो मुझे कर्म नहीं करते देख लोग मेरी नकल करेंगे। अगर मैं सौ में सौ काम ठीक करूँगा तो, तुम पचास काम ठीक करोगे और अगर मैं सौ में बीस काम खराब करूँगा तो तुम सौ में अस्सी काम खराब करोगे! किसी का दुर्गुण खट से ले लिया जाता है जबकि किसी का सद्गुण लेने में लगता है 'अरे! ये तो बहुत बड़े हैं, इन्होंने कर लिया, हमसे कहाँ होने वाला है!' अतः बड़ी सावधानी से मैं सब समय अतंद्रित होकर कर्म करता हूँ कि कहीं मुझे देखकर मनुष्य गड़बड़ न कर दे। यदि मेरी गड़बड़ी से इन्होंने गड़बड़ी की तो मुझे कुछ फ़र्क पड़ता नहीं है लेकिन सब बेचारे भ्रष्ट हो जायेंगे, उत्सन्न हो जायेंगे।' बड़े व्यक्ति को हर समय सावधान रहना पड़ता है कि मेरे कारण किसी प्रकार लोगों के अन्दर असत् प्रवृत्ति न हो जाये।

यद्यपि परमेश्वर चाहते तो हैं कि हमारे स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों की निवृत्ति हो तथापि अभी हम उस निवृत्ति के लिये तैयार नहीं हैं। परन्तु हम भी दुःख-निवृत्ति तो चाहते ही हैं अतः हमारे छोटे-छोटे दुःखों को भी वे निवृत्त करते ज़रूर हैं। उद्देश्य उनका यही है कि ये निवृत्त हो जायें तो आगे चलकर इनके आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति हो। करना तो वे यही चाहते हैं। पुराणों के अन्दर त्रिपुरासुर की कथा है कि तारकाक्ष आदि राक्षसों के तीन पुर थे वे तीनों पुर इकट्ठे हों तब नष्ट हो सकते थे। वे कभी इकट्ठे होते नहीं थे, तीनों भाई अलग-अलग रहते थे।

अन्त में जब देवताओं ने भगवान् शंकर से प्रार्थना की तब उन्होंने तीनों पुरों को एकत्रित कर एक ही बार में समाप्त किया। हमारे भी तीन पुर हैं : एक तो हमारा स्थूल शरीर, जिससे हम सब कर्म करते हैं। बिना शरीर के तो हम कोई कर्म नहीं कर सकते, कर्म करने का आश्रय यह है। इसमें सूक्ष्म शरीर जो इस शरीर से कर्म करवाता है। ठीक जिस प्रकार से पंखे की ताड़ियाँ चलती हैं, हवा तो इसी से लगती है, लेकिन उस पंखे के अन्दर जो आर्मेचर है वह ताड़ियों को चलाने वाला है। चलेंगी ताड़ियाँ, चलायेगा अन्दर का आर्मेचर। इसी प्रकार चलेगा शरीर, कर्म शरीर करेगा परन्तु अन्दर जो सूक्ष्म शरीर है वह करवायेगा। मोटी भाषा में मन को समझ लो सूक्ष्म शरीर। मन करवाता है तो किसके द्वारा करवाता है? कारण शरीर के द्वारा, जिसमें सारी वासनाएँ पड़ी हुई हैं। वासनाएँ ताकत देती हैं सूक्ष्म शरीर को कर्म करवाने की। जैसे-जैसे तुम्हारी वासनाएँ ख़त्म होती जायेंगी वैसे-वैसे तुम्हारा सूक्ष्म शरीर कर्म करवाने का काम छोड़ेगा, तो शरीर भी कर्म करना छोड़ेगा। इसीलिये महाभारत में कहा है **'नाऽसौत्यजति कर्माणि कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ'** वह कर्म नहीं छोड़ता, कर्म ही छोड़ देते हैं! कर्मों को छोड़ना नहीं चाहिये, कर्म मुझे छोड़कर चले जायें ऐसा बन जाना चाहिये।

'आद्यं' अर्थात् वे सबके कारण हैं, आगे उनका कारण कोई नहीं। कारण परम्परा जहाँ जाकर समाप्त होती है वह भगवान् शंकर हैं। 'त्रिनयनम्' भगवान शंकर के तीन नेत्र हैं—सूर्य, चन्द्र और अग्नि। उनका जो दक्षिण नेत्र है, वह सूर्य है, बायाँ नेत्र चन्द्र और भालनेत्र अग्नि है। इसलिये शिवाष्टोत्तर शतनाम के अन्दर **'सोमसूर्याग्निलोचनम्'** एक नाम ही है अर्थात् सोम, सूर्य और अग्नि—ये उनके नयन हैं। आँख वह होती है जिसके द्वारा तुम देखते हो। लगता तो यह है कि आँख देखती है पर आँख तो इन्द्रिय है। इन्द्रिय का अर्थ होता है जो इन्द्र *की* शक्ति हो

'इन्द्रस्येदमिन्द्रियम्'। पहले भी बतलाया था कि इन्द्र परमेश्वर है। आँख के द्वारा देखने वाले तुम हो, आँख करण है, साधन है देखने का, वह देखने वाली नहीं है, देखने वाले तुम हो। सोम, सूर्य और अग्नि उनके नेत्र हैं, का मतलब है कि सोम, सूर्य और अग्नि उनके द्वारा प्रवृत्त हैं। इसीलिये गीता में कहा **'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्'** सूर्य के अन्दर जो तेज है, चन्द्रमा में जो तेज है, अग्नि में जो तेज है, इन तीनों में होने वाले तेज को तुम मेरा तेज समझो। अतः 'त्रिनयन' हैं अर्थात् सब चीज़ों को प्रकाश देने वाले हैं। सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी उनके कारण प्रकाश वाले हैं। सोम और सूर्य—ये हमारे यहाँ काल के नियामक हैं। इसीलिये कालिदास भी कहते हैं **'ये द्वे कालं विधत्तः'** कि सूर्य-चन्द्र काल का विधान करते हैं। जितना भी हम लोगों का समय का परिमाण है वह सूर्य और चन्द्र से निर्णीत होता है। दिन क्या है? सूर्योदय से लेकर अगले दिन जब सूर्य उदय हो, तब तक एक दिन है, यही दिन का परिमाण है। मास, महीना किसको कहते हैं? एक बार चन्द्रमा पूर्ण होवें और पुनः जब पूर्ण हो तब तक एक मास है। पूर्णिमा से पूर्णिमा तक मास, महीना होता है। और जहाँ सूर्य है, जैसे मेष राशि में सूर्य है, उसी मेष राशि में सूर्य वापस उसी स्थान पर पहुँच जाये तो उतना काल वर्ष हो गया, संवत्सर हो गया। संवत्सर पूर्णकाल है, इसीलिये संवत्सर जब ख़त्म होता है तब तुम फिर उन्हीं महीनों को, उन्हीं दिनों को गिनने लग जाओगे। सूर्य और चन्द्र के द्वारा काल का विधान है। अग्नि सारी ऊर्जा है। 'एनर्जी' जितनी है, वह सारी किसी-न-किसी रूप से अग्नि है। कुछ भी किया करोगे तो ऊर्जा से ही करोगे। शरीर से क्रिया करोगे तो प्राण की ऊर्जा चाहिये। जितना तुम्हारा प्राण पुष्ट होगा उतनी ही तुमसे शारीरिक क्रिया होगी, जितना तुम्हारा प्राण कमजोर होगा उतनी ही क्रिया

नहीं कर सकोगे। जो ज़रा बड़ी उम्र वाले हैं उनको याद होगा, एक राममूर्ति थे, वे अपने छाती पर हाथी को खड़ा कर लेते थे! रस्से बाँध कर रेल के पीछे खड़े हो जाते थे तो रेल नहीं चल पाती थी! यह सब शक्ति काहे की थी? प्राण की, और किसी की नहीं। आप लोग मोटर पर बैठते हो; मोटर का सारा वज़न किस पर होता है? हवा पर होता है! अगर टायर-ट्यूब की हवा निकाल दो तो चलेगी गाडी? दीखता तो है कि टायर वज़न ले रहे हैं पर टायर नहीं ले रहे हैं, टायर लेता हो तो हवा निकालने के बाद भी ले! सारे वज़न को उठाने वाली तो हवा है। इसी प्रकार से यदि हाथी को छाती पर खड़ा करते हो तो लोग समझते हैं कि हड्डी टूट जायेगी। हड्डी पर थोड़े खड़ा है, खड़ा तो उसकी प्राण-वायु के ऊपर है। जब प्राण-वायु कमज़ोर हो जाती है तब आदमी बिछौने से उठ नहीं सकता है, कोई सहारा दे तब उठेगा। जब तक प्राण को ऊर्जा देने वाला अन्न मिलता रहता है, तब तक उसमें शक्ति रहती है। मोतीझरा हो जाता है; अब तो क्लोरोमाईसिटीन वगैरह आ गई हैं, पहले इक्कीस दिन तक कुछ खाने को नहीं देते थे। इक्कीस दिन नहीं खाने के बाद जब बुखार उतर जाता था, और रोगी खड़ा होने की चेष्टा करता था तो खड़ा भी नहीं हो पाता था। फिर दाल का पानी पीता था, खिचड़ी खाता था। जहाँ अन्न मिला, ऊर्जा आई, फिर वैसा ही दौड़ने लगता था। शरीर के अन्दर भी जितनी क्रियायें हैं, सब ऊर्जा से होती हैं, बाहर की जितनी क्रियाएँ हैं, वे भी सब ऊर्जा से ही होती हैं। अग्नि समग्र ऊर्जा है। सोम-सूर्य अर्थात् काल और अग्नि अर्थात् ऊर्जा सभी को परमेश्वर ही, शक्ति देता है, अतः कहा **'त्रिनयनम्'**।

'जटाभारोदारम्' भगवान् शंकर के सिर के ऊपर बड़ी भारी जटा है। छोटी जटा नहीं है, बहुत बड़ी जटा है। कितनी बड़ी जटा है? रोज़ आप महिम्न में पाठ करते हो कि समुद्र को

भरने वाली जो गंगा है, वह वहाँ एक बिंदु के जितना दिखती है! विचार करो, जटा कितनी बड़ी है उनकी! इसीलिये कहा— **'जटाभारोदारं'** बहुत बड़ी जटा है। अन्यत्र आचार्य शंकर ने लिखा है **'आकाशश्चिकुरायते दशदिशाभोगो दुकूलायते'**; उनके बाल क्या हैं? यह जितना बड़ा आकाश है, यही उनके बाल हैं, जटा हैं, आकाश ही जटा है। और जो दश दिशायें हैं वही उनकी चद्दर है। इसीलिये जटाभार उनका बड़ा उदार है, बहुत बड़ा है। जटा हमारे यहाँ तप को बतलाती है। भट्टो जी दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी के अन्दर यही कहा है **'जटाभिस्तापसः'** जटा के द्वारा पता लगता है कि यह तपस्वी हैं। भगवान् शंकर बड़ा भारी जटाभार रखते हैं अर्थात् हमेशा तप में मग्न रहते हैं। अतः महिम्नःस्तोत्र में आप लोग रोज़ पाठ करते हो कि जिस-जिस देवता को जो-जो चीज़ चाहिये वह सब उन देवताओं को वे देते हैं, परन्तु अपने पास कुछ नहीं रखते। उनकी यदि सामग्री देखो तो वे अपने पास क्या रखते हैं? सब चीज़ें थोड़ी-थोड़ी तो रखते हैं; जैसे आप लोग कोई रोल्स रायस रखते हो, कोई शेवरलेट रखते हो, ऐसे उनके पास भी गाड़ी है—एक बुड्ढा बैल है, 'महोक्षः', ताकि कोई यह नहीं कहे कि इनके पास वाहन नहीं है। सामान्यतः हाथी पर बैठोगे तो राजा कहे जाओगे, घोड़े पर बैठोगे तो सिपहसालार कहे जाओगे, पर बैल पर बैठने वाले को कुछ नहीं माना जाता! फर्नीचर भी रखना चाहिये घर में; पूरी खटिया इन्होंने नहीं रखी है पर घर में खटिया का एक पाया रख लिया है! कोई यह नहीं कह सकता कि 'नहीं है'। खटिया का एक पाया उनके पास फर्नीचर है। कपड़े भी रखते हैं; हाथी का चमड़ा रखते हैं, पहनने के लिये। आजकल के लोग जो बड़े फैशनेबल होते हैं वे साँप के चमड़े का तो प्रयोग कर लेते हैं लेकिन हाथी के चमड़े का प्रयोग कोई नहीं करता। उसको उन्होंने अपना 'बार्डरोब' बना रखा है। वैसे तो वे दिगम्बर रहते

हैं लेकिन कहीं आने-जाने के लिये कपड़ा तो होना चाहिये, अतः एक हाथी का चमड़ा रखा। शृंगार भी करना चाहिये; उसके लिये चिता की भस्म लगा लेते हैं! कुछ बर्तन भी होने चाहिये, क्रॉकरी-कटलरी चाहिये; तो मुर्दे की खोपड़ी रख लेते हैं! खोपड़ी देखी होगी, उसमें कुछ रखते ही झट इधर-उधर निकल जाता है, बीच में थोड़ी-सी जगह ही रहती है; फिर भी है तो बर्तन ही। बस, इतना ही सामान अपने पास रखते हैं। बाकी, जिस-जिस देवता को जो-जो चीज़ चाहिये वह सब दे देते हैं।

ऐसा वे क्यों कर पाते हैं? **'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति'** जो अपनी आत्मा में रमण करने वाला है वह कभी भी विषयों की मृगतृष्णा की तरफ जाता नहीं, भ्रमण करता नहीं। विषयों की मृगतृष्णा की तरफ जाये और फिर कहे कि 'मैं आत्मा के आनन्द को लेता हूँ' तो यह कैसे संभव हो सकता है! आत्मा यदि आनन्द है तो अनात्मा दुःख है, और अनात्मा आनन्द है, तो आत्मा आनन्दरूप नहीं है। दोनों बातें नहीं हो सकतीं। कोई कहे 'सिर दर्द में बड़ी भारी पीड़ा होती है, और बड़ा सुख मिलता है', तो क्या मान लोगे कि हो सकता है? पीड़ा है तो सुख नहीं हो सकता, सुख है तो पीड़ा नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि तुमको आत्मा का सुख है, तो अनात्मा की तरफ जा नहीं सकते और यदि अनात्मा की तरफ जा रहे हो तो अभी आत्मसुख का पता नहीं है। इसीलिये उनका रूप तपस्वी का है। सारी चीज़ें उनके पास हैं तभी दूसरों को देते हैं, परन्तु स्वयं भोग करते नहीं क्योंकि इनमें किसी सुख का बोध नहीं है। तप का स्वरूप ही है कि भोग की सामग्री हो, परन्तु उसका भोग हम न करें। दूसरा भले ही उसका भोग करे, क्योंकि वह उस बात को अभी समझता नहीं है। जैसे छोटे बच्चों के लिये तुम गुड़िया ले आते हो; उससे पच्चीस साल का लड़का तो सन्तुष्ट नहीं होगा कि कहो 'शादी-ब्याह करके क्या करोगे, गुड़िया रख लो!' गुड़िया उसे सुख थोड़े ही दे सकती है। पर तुम भी गुड़िया को बचा कर रख लेते हो, कि आगे हमारे बच्चे होंगे तो उनके काम आयेगी। इसी प्रकार से समग्र अनात्मपदार्थों के अंदर आत्माराम को कोई रुचि होती नहीं। जो अभी बच्चे हैं, अभी अनात्मा को सुख समझते है; वे उनका प्रयोग करें। इसी तपस्या को कहा **'जटाभारोदारम्'**।

'चलदुरगहारम्' गहना पहनते हैं, अलंकार करते हैं, हार पहनते हैं। किस चीज़ का हार? बढ़िया सुन्दर ठंडे-ठंडे साँप का हार बनाकर पहनते हैं! पुराणों में कथा है कि देवदारु वन में वे गये तो वहाँ के सर्पों ने आकर प्रार्थना की थी, तब उन साँपों को उन्होंने अपने शरीर में धारण कर लिया था। परन्तु कैसा साँप है? कोई सोचेगा कि मरे साँप को धारण कर लेते होंगे! कहते हैं **'चलदुरगहारम्'** चंचल है, चल रहा है। ज़िन्दे साँप के हार को धारण करते हैं। उरग का मतलब होता है **'उरसा गच्छति'** जो चलता है। साँप को उरग इसीलिये कहते हैं कि छाती से चलता है। पैर तो उसके होते नहीं हैं, शरीर के बल से ही चलता है। मनुष्य के शरीर में जो कुण्डलिनी शक्ति है वह मूलाधार से सहस्रार तक जाती है और वह क्योंकि सरकते हुये जाती है इसीलिये उसको कई जगह सर्पिणी कहते भी हैं। यह जो मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त जाने वाली कुण्डलिनी, वह भी कुण्डलिनी कैसी? चलती हुई अर्थात् जाग्रत् हुई। पड़ी हुई नहीं, वह तो सबके ही पड़ी हुई है! जो जाग्रत् कुण्डलिनी है वही उनका हार है। इसके द्वारा बताया कि केवल तपस्या ही नहीं, सारे योग उन्हीं के अन्दर निहित हैं।

'मृगधरम्' भगवान् शंकर की चतुर्भुजी मूर्ति देखो, तो एक हाथ में हरिण को लिये हुए हैं; हरिण के जो दोनो पीछे के पैर हैं वे तो उनकी अँगुलियों में दबे हुये हैं और हरिण के अगले

पैर निकले हुए दौड़ने को तैयार हैं। चार पैर वाला हमारा अंतःकरण है। जैसे हरिण चंचल है ऐसे ही अंतःकरण, मन चंचल है। मृग शब्द का अर्थ होता है कि जो ढूँढ़ता, घूमता रहता है, मृग धातु का अर्थ है ढूँढ़ना। हरिण हमेशा दौड़ता रहता है। हरिण को बड़ी सुन्दर सुगंधि आती है और वह सुगंधि का प्रेमी है, अतः सुगंधि को लेने के लिये दौड़ता है। परन्तु उसको कहीं सुगंधि मिलती नहीं। इसलिये हमेशा दौड़ता रहता है कि सुगंधि मिल जाये, मिल जाय, मिल जाय। जितना दौड़ता है, उतनी ही उसकी सुगंधि तेज़ हो जाती है। तुमको यदि गुलाब की खुशबू आवे, तुम उस दिशा में जाओ और गंध तेज़ होने लगे तो तुम सोचते हो 'अब मिल जायेगा, अब मैं उसके पास जा रहा हूँ।' इसी प्रकार हरिण दौड़ता है, उसको सुगंधि तेज़ आती है तो वह सोचता है 'पहुँच जाऊँगा।' अतः दौड़ता रहता है। परन्तु कभी भी उसको वह सुगंधि मिलती नहीं, इसीलिये उसका मार्गण अर्थात् ढूँढ़ना कभी रुकता नहीं। यही हालत हमारे अंतःकरण की है। बेचारा हमेशा सुख को ढूँढ़ता है। जिस चीज़ को समझता है कि सुख देगी, उसकी तरफ जाता है, जब वह मिलती है तब लगता है 'सुख मिल गया', परन्तु मिलने के बाद ही देखता है 'अरे! सुख नहीं हैं।' बस, थोड़ी देर के लिये लगता है कि सुख मिला। भोजन करने बैठे, बढ़िया पकौड़ा लेकर आया कोई, पकौड़ा और चटनी बड़े मज़े से खाई; जब तीन-चार पकौड़े खाये, तब मुँह जलने लगा! कहते हैं 'पानी तो दिया ही नहीं।' बस, गया तुम्हारा मज़ा। कहते हो 'अरे! पानी लाओ, पानी लाओ' अभी तो तुम कह रहे थे कि बड़े मज़े में हो, क्या हो गया? गया वह सुख। इसी प्रकार जिस-जिस चीज़ को सुखप्रद सोचते हो वह मिलती है, और जब लगता है कि सुख मिल गया तभी देखते हो कि नहीं मिला। इसीलिये मन दौड़ता रहता है।

मृग को क्यों नहीं मिलती वह सुगंधि? क्योंकि वह सुगंधि उसकी अपनी नाभि में है। सुगंधि बाहर होती तो दौड़ कर मिल जाती, वह सुंगधि है तो उसके अपने अंदर, सोचता है कि बाहर से आ रही है। दौड़ने पर उसकी नाभि थोड़ी गीली हो जाती है, पसीना आ जाता है। सुगंधि का नियम है कि उसमें जितनी तरलता होगी उतनी उसकी तेज़ी होगी, अगर उसी सुगंधि को तुम बिलकुल सूखी अवस्था में रख दो तो, सुगंधि नहीं-जैसी आयेगी। इसीलिये प्रायः जितने भी गंध के पदार्थ हैं, हम लोग उन्हें तेल में अत्तर रूप में रखते हैं, विदेशी लोग उसको शराब में रखते हैं, परन्तु रखते हैं तरल चीज में, सूखा नहीं रखते क्योंकि सूखे में सुगंधि नहीं होती। इसी प्रकार जब मृग दौड़ता है तब उसकी नाभि में पसीना आता है, तो सुगंधि तेज़ होती है। वह सोचता है 'मैं सुगंध के नज़दीक पहुँच रहा हूँ।' है तो वह उसके अन्दर, बाहर है नहीं। इसी प्रकार तुम्हारे मन के अन्दर शिव का प्रतिबिम्ब पड़ा है, वह प्रतिबिम्ब ही आनन्दरूप है। शिव आनन्दरूप है, आनन्दघन है, इसीलिये उसका जो प्रतिबिम्ब तुम्हारे मन में पड़ रहा है, वह भी आनन्द का प्रतिबिम्ब है। बाहर विषयों में आनंद नहीं है। विषयों में तुमको सुख का भान क्यों होता है? तुमने सोचा 'इस चीज़ में सुख मिलेगा', तुम्हारा मन उस चीज़ की तरफ गया उसको सुख समझ कर; जब वह पदार्थ मिला तब उसकी ओर प्रेरित करने वाली इच्छा ख़त्म हुई इसलिये मनोवृत्ति लौटकर अन्तरात्मा की ओर आती है। अन्दर की तरफ परमात्मा बैठा हुआ है, अतः मन उस परमात्मा को देखता है; सुख उसको अपने अंदर का मिलता रहा है, परन्तु सोचता है कि विषय से आ गया। जिस प्रकार मृग अपने ही अंदर होने वाली सुगंध से आकृष्ट होकर उसको अन्यत्र ढूँढ़ता है, उसी प्रकार मन के अन्दर, अन्तःकरण के अंदर पड़ा हुआ जो शिवरूपी आनंद का प्रतिबिम्ब, उसको वह समझता है कि बाहर से मिलेगा अतः

बाहर ढूँढ़ता रहता है। इसीलिये मन ही मृग है। भगवान् शंकर मृग को हमेशा पकड़े रखते हैं, उसको दौड़ने नहीं देते। उसके दो पैर हमेशा बाहर की ओर दौड़ने की कोशिश कर रहे हैं, पर पिछले दो पैर वे पकड़े हुये हैं। अर्थात् मन मरा नहीं है। जिस प्रकार साँप उनके पास रहता है, लेकिन मरा हुआ नहीं, इसी प्रकार मरा हुआ मन नहीं है। दूसरे लोग तो कोशिश करते हैं कि मन मर कैसे जाये। यहाँ मन मारा नहीं जाता है, परन्तु मनके ऊपर पूरा नियन्त्रण रखा जाता है। इसी ग्रंथ में आगे जाकर (श्लो. २०,२२,९७) कहेंगे कि इस चंचल मन को मैं नहीं पकड़ पाता, आप मृगधर हैं, आपही इसको पकड़ कर मुझे इसके बंधन से छुड़ायें, मेरे बूते का है नहीं इसको पकड़ना। आपके लिये यह कोई मुश्किल काम है नहीं, आप ही कर लीजिये।'

हमारे लिये वे ऐसा क्यों कर देते हैं? **'मयि सदयभावम्'** भगवान् शंकर हमारे ऊपर हमेशा दया का भाव रखते हैं। हमारी दीनता को वे जानते हैं। आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र लिखते हैं—कोई बेचारा छोटा बछड़ा हो और उसे तुम किसी जवान साँड के साथ एक जुये पर बाँध दो! वह उन्मत्त साँड तेज़ी से दौड़ेगा। वह बेचारा छोटा बछड़ा जो बँध गया, वह अब क्या करे! बहुत साल पहले कलकत्ते के अंदर उस समय के करोड़पति एक मारवाड़ी थे। उनके लड़के की शादी होनी थी। लड़के की दोस्ती एक रेस के घोड़े को चलाने वाले से थी। उसने उससे कहा कि 'अरे यार! अपना बढ़िया घोड़ा भेज।' उस बेचारे ने उससे कहा 'रेस का घोड़ा है, शादी के काम का नहीं होता है।' उसने कहा 'बात मत बना, तू वह घोड़ा दे।' घोड़ा देखने में भी बढ़िया था। दोस्ती के कारण कहा कि 'भेज देता हूँ, पर एक बात का बहुत ख्याल रखना कि तुम्हारे जो पैर का टखना है, वह किसी तरह उसके शरीर को न छुये, यह ध्यान रखना।' घोड़ा दे दिया। वर घोड़े पर बैठ गया और थोड़ी दूर चला। आगे कुछ लोग नाच रहे

थे, वह नाच को देखते हुये वर भूल गया, उसने अपना पैर ज़रा हिला दिया। वह घोड़ा जो वहाँ से भागा तो पार्क स्ट्रीट से डलहौजी तक सरपट भागता ही गया। घोड़े वाले को अंदेशा तो था ही अतः उसने वर को घोड़े से बाँध दिया था जिससे लड़का गिरा तो नहीं लेकिन एक तरफ लटक गया। डलहौजी चौराहे पर कुछ पुलिस वालों ने किसी तरह घोड़े को पकड़ा। ठीक इसी प्रकार हमारा मन रेस के घोड़े की तरह है। चाहे उस पर बैठे की तरह, चाहे साँड़ के साथ बँधे बछड़े की तरह समझा जाये, मैं कैसे अपने को नियन्त्रित करूँ? जैसे घोड़े वाला समझदार था तो उसने वर को बाँध दिया था ऐसे भगवान् दया का भाव रखते हैं। हम प्रायः परमेश्वर का स्मरण नहीं करते, पर जैसे ही करते हैं वैसे ही वे हमारी मदद कर देते हैं। क्यों? क्योंकि जानते हैं कि यह बेचारा कुछ कर नहीं सकता है! इसीलिये उनका हमारे ऊपर हमेशा दया का भाव रहता है।

क्यों रहता है दया का भाव? **'पशुपतिम्'**; शास्त्रकार कहते हैं कि पशु का अर्थ क्या है **'जीवास्तु पशवःप्रोक्ताः'** जीव ही पशु है। पशु का मतलब होता है जो पाश से बँधा हुआ हो। आज की भाषा में, जिसके गले में पट्टा पड़ा हो जैसे कुत्ता। गली के कुत्ते में और पालतू कुत्ते में क्या फ़र्क है? पालतू के गले में पट्टा पड़ा होता है, दूसरे के गले में नहीं है, बस यही फ़र्क है। पाश में पड़ा हुआ हो, वही पशु होता है, **'पाशबद्धो भवेत् पशुः'** पशु के तो केवल एक पट्टा पड़ा होता है और अतिधन्य ऋग्वेद कहता है कि हम जीवों के तो तीन पट्टे पड़े हुये हैं! वरुण की प्रार्थना करते हुये ऋग्वेद का मंत्र कहता है कि एक तो गले में पड़ा हुआ है, दूसरा कमर में पड़ा हुआ है और तीसरा पैरों में पड़ा हुआ है। पैरों में भी बेड़ियाँ हैं, कमर में भी है, गले में भी है। तीन पाश हैं—मल, आवरण और विक्षेप, तीनों से हम बँधे हुये हैं। पुराने किये हुये कर्मों के फलस्वरूप

मल दोष है। रात-दिन विषयों की तरफ दौड़ते हैं तो विक्षेप दोष है, और आत्मा का स्वरूप नहीं जानते हैं तो आवरण दोष है। ये तीनों ही पाश हमारे ऊपर लगे हुये हैं। हम पशु हैं और आप मालिक हैं। जो मालिक का कुत्ता है, वह थोड़ा भी इधर-उधर भटके तो मालिक खट देखता है, उसको बचाने की सोचता है। मैं पशु हूँ और आप मेरे पति हैं, पशुपति होने से मेरे ऊपर आपका दया का भाव है। इसीलिये आप अवश्य मेरे मन को नियन्त्रण में कर लेंगे।

'देवम्' मैं पशु हूँ और आप देव हैं, परन्तु साधारण देव नहीं हैं **'महादेवं देवं'** सारे देवताओं के आप अधिपति हैं। इसीलिये आप महादेव हैं। बाकी सब देव हैं, एकमात्र आप ही महादेव हैं। 'चिदालम्बं' चेतन ही आपका एकमात्र आलम्बन है। 'साम्बं' अम्बा के साथ हैं, शक्ति के साथ हैं। ऐसे 'शिवं' शिव को 'हृदि भजे' हृदय में मैं भजता हूँ। वे कैसे हैं? **'अतिविडम्बम्'**। वेदान्त का सिद्धान्त बतला दिया। आप कैसे हैं? विडम्ब हैं, विडम्ब का अर्थ होता है, अत्यन्त चतुर अथवा दूसरे को धोखे में डालने वाला! हिन्दी में भी कहते हैं 'यही विडम्बना है' अर्थात् कुछ समझ में नहीं आता है, धोखा खा रहे हैं। डम्ब धातु का मतलब धोखा और दूसरा अर्थ नकल करना भी है। इस अर्थ में हिन्दी में कम प्रयोग है। शिव के अन्दर ये दोनों बातें हैं; जिस उपाधि में जाता है उसी उपाधिवाला दीखता है। ठीक जैसे घड़े में आकाश कैसा दीखेगा? घड़े की शक्ल का। लोटे मे दीखेगा लोटे की शक्ल का। इसी प्रकार शिव जिस उपाधि में दीखता है उस उपाधि वाला ही दीखता है मानो तुरन्त नकल कर ली! जिस उपाधि में गया उस उपाधि वाला बन गया, और धोखा इसीलिये देता है कि तुम सोचते हो कि वह उपाधि के अनुसार बन गया जबकि वह उपाधि में रहता हुआ

उपाधि का मालिक है। जीव और ईश्वर में इतना ही तो फ़र्क है : हम मन के अधीन हैं इसीलिये जीव हैं, वह मन का मालिक है इसीलिये ईश्वर है, सर्वत्र यही है कि उपाधि के अधीन जो होता है वह जीव है और उपाधि का नियामक होता ईश्वर है। अतिविडम्ब हम को लगता है कि तुम भी हमारी तरह उपाधि वाले हो, मालिक हो, और मैं नौकर हूँ, इसीलिये धोखा खाता रहता हूँ। माया का रूप ही विडम्बना है। अनादि काल से दार्शनिक लोग यह निर्णय करने की सोच रहे हैं कि संसार सत् है या असत् है। कोई कहता है यह संसार सच्चा है, कोई कहता है बिलकुल झूठा है। कुछ कहते हैं कि झूठा और सच्चा मिला हुआ मान लो! यह कुछ सच्चा भी है, कुछ झूठा भी है! अनादि काल से दार्शनिक झगड़ा कर रहे हैं, पर आज तक किसी फैसले पर नहीं पहुँचे। कई चीजें हैं जिन्हें देखो तो लगता है कि संसार सच्चा होना चाहिये। दूसरी चीज़ें देखो तो लगता है कि संसार झूठा होना चाहिये। सच और झूठ इकट्ठे तो हो नहीं सकते, असम्भव बात है कि एक ही चीज़ एक ही समय में झूठी भी हो और सच्ची भी हो। वेदान्ती बार-बार इस बात को कहता है कि जगत् ब्रह्मरूप से सत् है नामरूप असत् है। एक साथ सत् और असत् नहीं है। अधिष्ठान की दृष्टि से देखो तो सत् है, अध्यस्त की दृष्टि से देखो तो असत् है। दोनों को बिना अलग किये हुये देखो तो कुछ समझ नहीं आता कि क्या है? यह जो वेदान्त का सिद्धान्त है इसको स्पष्ट कर दिया **'अतिविडम्बं हृदि भजे'** कहकर। ऐसे भगवान् शंकर का मैं हृदय में भजन करता हूँ।।३।।

(४)

एक शिव ही हृदय में रखने के योग्य हैं–यह त्रयीवेद्यं से बतलाया था। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इस क्रम में सबसे अन्त में अथर्ववेद आता है। अथर्ववेद के अंत में आता है अथर्वशिखा और अथर्वशिखा के अंत में वाक्य आता है **'शिव एको ध्येयः शिवंकरः सर्वम् अन्यत् परित्यज्य।'** शिव शिवंकर है अर्थात् वह स्वयं तो शिवस्वरूप हैं ही, मंगलस्वरूप हैं ही, कल्याणस्वरूप हैं ही, अत्यन्त रमणीय हैं ही, आनन्द-स्वरूप हैं ही, परन्तु तुमको भी वह शिवस्वरूप ही बना देते हैं। तुमको शिव ही बना देते हैं। अगर कोई व्यक्ति किसी छोटी भी दुकान में मुनीम हो और लोगों को कह दे कि 'मैं यहाँ का मालिक हूँ', तो मालिक उसको नौकरी से बर्खास्त कर देगा। अगर कोई मंत्री कह दे कि 'मैं राजा हूँ' तो राजा उसका सिर कटवा देगा। परन्तु शिव की यह विशेषता है कि जो कहता है **'शिवोऽहम्'** उस पर वे अत्यंत प्रसन्न हो जाते हैं। अतः वही एकमात्र ध्येय हैं क्योकिं वह शिवंकर हैं। एक उनका ही ध्यान करना है, तो अन्य ध्यानों को छोड़ना पड़ेगा, अन्यथा निष्ठा बनेगी नहीं। इसीलिये गीता में भी कहा–**'भक्त्या तु अनन्यया शक्यः अहं ज्ञातुम्'** (११.५४)। उनसे भिन्न कुछ है ही नहीं–यह निश्चय है अनन्या भक्ति। 'उनके सिवाय कोई दूसरा मेरे भजन के योग्य नहीं है', यह बुद्धि मात्र अनन्या भक्ति नहीं हो सकती। द्वैतवादी अनन्या भक्ति का अर्थ विपरीत करते हैं। वे कहते हैं कि अन्य कोई मेरा उपास्य नहीं है, दूसरे की मैं उपासना नहीं करता हूँ। परन्तु भगवान् ने तो यह कहा नहीं, उन्होंने कहा 'भक्त्या अनन्यया' अर्थात् तुम्हारी भक्ति का रूप ही यह है कि शिव से अन्य कुछ नहीं है, जो कुछ है वह उसका ही स्वरूप है। वेद बार-बार कहते हैं कि ज़र्रा–ज़र्रा, कण-कण, क्षण-क्षण सिवाय उसके और कुछ

नहीं है। 'पुरुष ऐवेद ँ सर्वं', 'आत्मैवेद ँ सर्वं', 'ब्रह्मैवेद ँ सर्वं', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवामूर्तं च'। भिन्न-भिन्न उपनिषदें इस बात को कहती हैं। उसी को कहीं पुरुष नाम से कहा, कहीं ईश नाम से कहा, कहीं ईशान नाम से कहा, कहीं आत्मा नाम से कहा, कहीं ब्रह्म नाम से कहा, परन्तु जहाँ भी उसका वर्णन किया, इस रूप में ही वर्णन किया कि उससे भिन्न कुछ नहीं है। भगवान् ने कहा कि मैं जैसा हूँ वैसा तुम तभी समझ सकते हो जब तुम्हारी अनन्या भक्ति हो। जब तक तुम परमेश्वर को परिच्छिन्न समझोगे तब तक यह भक्ति नहीं होगी, तब तक तुम उसको पा ही नहीं सकते। अनन्य भक्ति होगी तब उसका ज्ञान कर सकोगे, परोक्षरूप से भी जान सकोगे 'द्रष्टुं' तभी तुम उसका अपरोक्ष साक्षात्कार भी कर सकोगे, उसको देख सकोगे। जैसे हाथ पर रखकर आँवले को देखते हो, ऐसे ही उनका स्फुट ज्ञान तुमको होगा। पहले परोक्ष ज्ञान होगा फिर अपरोक्ष ज्ञान होगा और अंत में 'तत्त्वेन प्रवेष्टुं' क्योंकि वही तुम्हारा स्वरूप है, इसीलिये उसमें प्रविष्ट हो जाओगे, जैसे बूँद समुद्र में प्रविष्ट हो जाती है। उसके बाद 'तुम' नाम की चीज़ कहीं रह नहीं जायेगी, एकमात्र शिव ही रह जायेगा। तुम्हारा अनुभव होगा, 'शिव ही आँख से देख रहे हैं, शिव ही नाक से सूँघ रहे हैं, शिव ही पैर से चल रहे हैं'। उस अनन्या भक्ति को ही बतलाते हैं–

सहस्रं वर्तन्ते जगति विबुधाः क्षुद्रफलदा
न मन्ये स्वप्ने वा तदनुसरणं तत्कृतफलम्।
हरिब्रह्मादीनामपि निकटभाजामसुलभं,
चिरं याचे शंभो शिव तव पदाम्भोजभजनम् ।।४।।

हे शंभो! क्षुद्रफल-प्रद हज़ारों देवता संसार में हैं पर मैं उनका अनुसरण कर अनंत फलों की कामना स्वप्न में भी नहीं

करता! समीपस्थ ब्रह्मा-विष्णु को भी दुर्लभ आपके चरणों का भजन ही सदा चाहता हूँ।

'जगति क्षुद्रफलदाः विबुधाः सहस्रं वर्तन्त' इस जगत् के अन्दर, इस संसार के अन्दर छोटे-छोटे फल देने वाले परिच्छिन्न फल देने वाले अनेक देवता हैं। किसी को राजा बना दिया, किसी को अरबपति बना दिया, ऐसे तुच्छ फल वे देते रहते हैं। जो तुच्छ बुद्धि वाले लोग हैं वे उसी में खुश हो जाते हैं कि 'भगवान् की बड़ी कृपा हुई तो हम अरबपति हो गये।' भगवान् की कृपा, कोई और चीज़ है! एक बार नारद जी के साथ भगवान् भिक्षुक का रूप लेकर किसी बहुत बड़े आदमी के घर पहुँचे, बड़ी भारी अट्टालिका थी। उनको देखते ही चौकीदारों ने हल्ला मचाया 'जाओ-जाओ यहाँ से रस्ता खाली करो।' भगवान् ने कहा 'भाई, हम ज़रा भूखे हैं', चौकीदार बोले 'यहाँ भिक्षा देना, दान देना—यह सब नहीं होता है, चलो, भागो यहाँ से।' भगवान् ने कहा 'अरे! ज़रा अंदर खबर तो दे दो।' तब तक मालिक आ ही गये, चिल्लाने लगे, चौकीदारों के ऊपर 'तुम लोगों को इसीलिये यहाँ रखा है! सब गंदगी यहाँ इकट्ठी कर लाये हो, भगाओ। इन लोगों को मारो धक्के।' चौकीदार कहने लगे 'अरे, तुमसे पहले ही कह रहे थे।' धक्का देकर भगवान् और नारद को अलग कर दिया। सेठ जी बाहर निकले मोटर में बैठे और चल दिये। भगवान् ने कहा 'तुम्हारा धन सौ गुना बढ़ जाये।' वहाँ से चल कर गाँव के बाहर पहुँचे। एक छोटी झोपड़ी थी, वहाँ एक आदमी था, उससे कहा 'भाई, बहुत भूख लगी है।' उसने कहा 'आप ज़रा दस मिनिट बैठिये, मैं गाय दुहकर लाता हूँ। और तो कुछ है नहीं, दूध पिला देता हूँ।' उसकी गाय ऐसी थी कि जब वह चाहे दूध दुह लेता था। ऐसी गाय को कामधेनु कहते हैं। दिन में चाहे उसे पाँच बार दुह लो, देती तो दूध थोड़ा ही है, लेकिन चाहे जितनी बार दुह सकते हो। उसने गाय दुही, दूध गरम किया,

उन लोगों को पिलाया। बड़े खुश होकर वहाँ से चले, नारदजी भी खुश हो गये कि 'देखो इसने बढ़िया दूध पिला दिया।' जाने लगे तो भगवान् ने कहा 'बड़ा अच्छा दूध पिलाया, इसकी गाय मर जाये।' नारदजी ने कहा 'महाराज! क्या कह रहे हो? लगता है कि कलियुग आपके सिर पर भी चढ़ गया! उसने धक्के मारे तो उसको कहा 'तुम्हारा सौ गुना धन बढ़ जाये' और इस बेचारे के पास कुछ नहीं है, बस एक गाय है, उसी से अपना गुज़ारा करता है, तो इसके लिये कहा 'गाय मर जाये'। भगवान् ने कहा नारद, तू समझता नहीं है। भावुक है, बुद्धि नहीं है तेरे में। मेरा दर्शन अमोघ होता है। किसी भी भाव से मेरा दर्शन हो गया तो उसका फल नहीं हो यह कभी नहीं हो सकता। चाहे उस सेठ ने हमें धक्के लगवाये, लेकिन उसको हमारा दर्शन तो हो ही गया। वह चाहता है 'मेरा धन खूब बढ़े' तो मैंने उसको वही आशीर्वाद दिया। यह चाहता है 'मैं सर्वथा परमेश्वर से एक हो जाऊँ' मोक्ष चाहता है। इसका संसार में और कोई बंधन नहीं है। पर इस गाय के बारे में सोचता रहता है। इसीलिये मेरे साथ अनन्य भक्ति नहीं कर पाता हैं। 'अब गाय को घास खिलाना है, अब गाय को पानी देना है, अब गाय के लिये दाना तैयार करना है, अब गाय को घुमाने ले जाना है' इस सबमें उलझने से इसका भजन छूट जाता है। बाकी तो इसकी किसी चीज़ में आसक्ति नहीं है पर इस गाय में है। गाय मर जायेगी तो यह निरन्तर मेरा चिन्तन करेगा, अति अल्पकाल में मेरे दिव्य धाम को आ जायेगा। इसके लिये भी मेरा दर्शन अमोघ हो गया। यह चाहता था मोक्ष, वही इसको मिल गया। उसने धक्का मारा, यह दोष भी किया। इसका धन बढ़ेगा, उससे अभिमान बढ़ेगा, दुष्कर्म में प्रवृत्ति होगी, आगे वह नरक जायेगा। धक्का मारा है तो नरक भी होना है।'

परमेश्वर की कृपा को जो नहीं समझते वे तो क्षुद्र फलों को, चीज़ों की प्राप्ति को सोचते हैं कि परमेश्वर की कृपा है। परन्तु ये क्षुद्र फल हैं, कुछ देर रहते हैं, निकल जाते हैं इन क्षुद्र फलों को देनेवाले 'विबुधाः' देवता लोग **'सहस्रं वर्तन्ते'** हज़ारों की संख्या में हैं। जहाँ जाओ वहाँ ये देवता मिल जाते हैं। जगह-जगह देवता बैठे हुये हैं, एक देवता के भी कई रूप होते हैं। एक जगह जाओ तो कहेंगे 'हमारे हनुमान् जी ज़्यादा तेजस्वी हैं।' दूसरी जगह जाओ तो कहेंगे 'हमारे हनुमान् जी ज़्यादा तेजस्वी हैं।' हनुमानजी भी कई होते हैं एक नहीं है! हज़ारों देवता हैं, क्या ठिकाना! परन्तु लोग जब कहते हैं 'हमारे देवता करेंगे' तो हमेशा किसी-न-किसी क्षुद्र फल का नाम लेंगे। वे यह नहीं कहते कि 'तुम्हारे तीनों पुरों का हरण करके तुमको कुछ नहीं बना देंगे!' यह कोई देवता वाले नहीं कहते। एकमात्र शिव हैं **'त्रिपुरहर'**। **'तदनुसरणं'** उन देवताओं का पूजन सेवन, भजन इत्यादि और **'तत्कृतफलम्'** उनकी सेवा, भजन, पूजा, अनुष्ठानादि से होने वाला जो फल, इन दोनों को **'स्वप्ने न मन्ये'** स्वप्न में भी मैं लेना नहीं चाहता। क्षुद्र फल की मुझे कोई इच्छा नहीं है, **'स्वप्ने न मन्ये'** इसका मतलब है कि जाग्रत् अवस्था के अन्दर तो कहाँ से लूँगा! बहुत बार जाग्रत् अवस्था के अन्दर मनुष्य कई चीज़ों के लिये मन को रोक लेता है परन्तु जाग्रत् काल में मन रोका जाता है, तो वह चीज़ उसको स्वप्न में मिलने लग जाती है। ऐसे प्रयोग किये गये हैं; बच्चे को लेकर के गये दुकान में, बच्चे ने कहा 'चाकलेट खिला दो।' माँ ने कहा 'नहीं-नहीं, तेरे दाँत बहुत खराब हैं, चाकलेट नहीं मिलेगा।' बच्चा दो-चार बार कहता है 'दे दो, एक ही दे दो।' माँ कहती है 'नहीं मिलेगा।' रात में बच्चे को स्वप्न आता है कि वह किसी दुकान में गया और दुकानदार उसे दिये जा रहा है चाकलेट और वह खाये जा रहा है! जाग्रत् काल में नहीं मिला, स्वप्न काल में मिल जाता है। अपूर्ण इच्छायें प्रायः हमारे स्वप्न में पूर्ण हो जाती

हैं। अतः कहते हैं, 'मैं तो स्वप्न में भी किसी कमी को, आपके सिवाय और किसी दूसरे से पूरी कराने वाला नहीं हूँ। क्षुद्रफल देने वालों से मैं कुछ भी लेने वाला नहीं हूँ। न उनका दिया फल मुझे चाहिये और न उनका हमें सेवन ही करना है।'

उपमन्यु भगवान् शंकर की आराधना कर रहा था। पहले भगवान् शंकर उसके सामने इन्द्र के रूप में आये और कहा 'तुमको जो चाहिये सो माँग लो।' उपमन्यु ने कहा, 'महाराज! आपसे हमें लेना कुछ नहीं है। हमें तो शिवजी से लेना है।' इन्द्र ने कहा 'अरे! शिवजी के पास खुद ही कुछ नहीं है, भाँग, धतूरा खाता है वह तुमको क्या देगा? मैं देवराज हूँ मुझसे लेलो।' उपमन्यु कहने लगे 'महाराज! आप देवराज हैं, आपको नमस्कार करता हूँ। पर अब आप पधारो, मुझे आपसे कुछ लेना नहीं है।' इन्द्र कुछ और बोलने लगा 'अरे! जिस शिव की तुम आराधना करते हो वह ऐसा है, वह ऐसा है', उपमन्यु ने कहा 'देखिये देवराज! आप मेरे सामने ऐसी बाते करेंगे, तो मैं अग्नि की धारणा करके अपने आप को जला डालूँगा। मैं आपकी यह बात सुनने को तैयार नहीं हूँ, आप यहाँ से पधार जायें, चले जायें, नही तो अग्नि की धारणा से मैं अपने आपको जला डालूँगा।' तब वह हाथी तो हो गया वृषभ और इन्द्र की जगह भगवान् शंकर! प्रसन्न होकर कहा 'मैं यही देखने आया था।' क्षुद्र फल की इच्छा जहाँ नहीं होती है, वहाँ स्वप्न में भी और किसी से लेना नहीं चाहेगा। सामान्य लोक में भी यही बात है। बच्चा किसी पड़ोसी के घर कुछ खाकर आ जाये, तो माँ डाट लगाती है। जब साधारण आदमी भी इस बात को पसंद नहीं करता है, तो जो वस्तुतः हमारा माता-पिता है, उसको कैसे प्रिय लग सकता है! इसीलिये कहा **'न स्वप्ने मन्ये'** स्वप्न में भी मैं किसी और से कुछ नहीं चाहता और किसी का अनुसरण भी नहीं करता।

क्षुद्र फल नहीं चाहते तो क्या चाहते हो तुम? कहते हैं **'हे शंभो तव पदाम्भोजमजनं याचे'** आपके चरण कमलों का भजन करता रहूँ—बस यही अपरिच्छिन्न चीज़ है। संसार की जितनी चीज़ें हैं वे सारी क्षणिक हैं, परिच्छिन्न हैं, नष्ट होने वाली हैं, उनमें से किसी चीज़ की मैं प्रार्थना नहीं करता हूँ, वे तो देने वाले बहुतेरे देवता हैं। मुझे तो आपके चरण कमलों का जो भजन है, बस वही चाहिये, उसी की प्रार्थना करता हूँ। एक बार नहीं, **'चिरं याचे'** हमेशा आपके चरण कमलों का भजन बनता ही रहे। 'चिरं' अर्थात् दीर्घकाल। भगवान् शंकर के चरण-कमल क्या हैं? पद शब्द का अर्थ होता है 'पद्यते गम्यते अनेन इतिपदम्' जिससे किसीका पता लग जाये, उसको पद कहते हैं। पुराने ज़माने में गऊशाला से अपनी गाय कहीं भाग जाये तो कैसे ढूँढ़ते थे? पहले सड़कें पक्की तो होती नहीं थी; उसके खुरों को देखते हुये उसके पीछे-पीछे जाते थे, वह मिल जाती थी। इसी प्रकार से चोर के पैरों के पदचिह्नों को, देखते हुये जाते थे, तो चोर को पकड़ लेते थे। उसके द्वारा पता लग जाता था इसीलिये उसको 'पद' कहते थे। शिव के पद अर्थात् जिसके द्वारा शिव का पता लगता है।

शिव का पता किससे लगता है? अपने अन्दर दो चीज़ें हैं जहाँ हमको शिव को समझना है, जिससे शिव का पता लगता है। शिव हमारे भीतर हमेशा अहंरूप से मौजूद हैं। आचार्य शंकर कहते हैं **'अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्'**। परमात्मा को कोई न जानता हो ऐसा नहीं है, वह सर्वथा ज्ञान का विषय नहीं हो ऐसा नहीं है। क्यों? 'मैं' इस प्रतीति के अन्दर हर प्राणी शिव को जानता है। जब कहता है 'मैं' तब जानता है 'मैं चेतन हूँ। मैं जानने वाला हूँ।' यह नहीं कि किसी ने वेदान्त पढ़ा हो तब उसको पता लगे कि मैं जानने वाला हूँ। अनपढ़ गँवार से लेकर, म्लेच्छों से लेकर पंडित तक यह जानता है मैं 'जड नहीं हूँ, चेतन हूँ।'

चेतन ही तो शिव है। पहले भी आया था **'चिदालम्बं'** चित् ही उसका आलम्बन है। जब कहते हो 'मैं चेतन हूँ' तब जानकर कह रहे हो, झूठ तो नहीं बोल रहे हो। 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार से सब लोग उसको जानते हैं। 'मैं' यह अंतःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति भी है। 'मैं चेतन हूँ' यह जानते हैं, इसमें 'मैं' और चेतन दोनों चीज़ें हैं। इनमें 'मैं' वाला अंतःकरण है, माया का अंश है, माया का कार्य है इसीलिये जन्मने-मरने वाला है। मैं जो अंतःकरण की वृत्ति है, यह जन्मता-मरता है। ऐसा नहीं समझ लेना कि सौ साल के बाद मरता है! प्रतिदिन मरता है। जब गहरी नींद में जाते हो तो वहाँ मैं रहता है क्या? वहाँ मैं का भान है? नहीं है। परन्तु चेतन तो वहाँ भी है। अगर तुम्हारे गहरी नींद में जाने पर चेतन न हो तो लोग उठाकर निगम बोध घाट ले जावें। अगर भूल से भी ऐसा लग जाये कि चेतन नहीं है, तो जला डाले जाओगे। हमारे एक पंडित जी थे, बड़े जबरदस्त भाँग पीने वाले थे। बहुत साल पहले की बात है। एक जगह आठ-दस पंडित लोग गये थे, कोई वैद्य थे, कोई ज्योतिषी थे। थे सारे के सारे भाँग पीने वाले। डट के सबने भाँग पी। भाँग के नशे में कुछ होश नहीं रहा। एक को उन्होंने देखा कि यह तो मर गया! जिसने देखा 'मर गया', उसने दूसरों से कहा 'यह तो मर गया।' सबने सोचा 'अपने को पुलिस पकड़ लेगी, यह तो गड़बड़ मामला हो गया। घोटकर तो हम ही लोगों ने पिलाई है।' सब नशे में मस्त थे। फैसला किया 'इसको अभी रातों-रात ले जाकर जला दें, नहीं तो पकड़े जायेंगे।' गाँव का मामला था, रात को ही जला दिया। वापस आकर सो गये। सबेरे नशा उतरा। उनको खयाल आया कि 'अरे! रात में उसको जला दिया।' उनमें जो वैद्य था उससे पूछने लगे कि 'रात में उसको जला तो दिया पर तुमने ठीक से देखा तो था कि मर गया था या नहीं?' वह बोला, 'मुझे क्या पता!' 'वैद्य तो तू है, तूने

कहा था कि मर गया।' सब आपस में विचार करने लगे कि 'हम लोगों ने कहीं जिंदे को तो नहीं जला दिया!' 'चेतन नहीं है' यदि ऐसा बहम भी हो जाये तो जाकर जला देंगे। गहरी नींद में तुम चले गये, 'मैं' तो नहीं रहा, पर चेतन है। गहरी नींद में 'मैं' मरकर फिर पैदा हो जाता है। परन्तु चेतन जाग्रत्, स्वप्न में भी वैसा ही है और सुषुप्ति में भी वैसा ही है। 'मैं' पैदा होने वाला और मरने वाला होने से माया का कार्य है और चेतन चूँकि जन्मरहित, मृत्युरहित, हमेशा एक-जैसा रहने वाला है इसीलिये शिव है।

'अम्भः' कहते हैं 'जल को। कमल जल में जन्म लेता है, पैदा होता है, इसलिये कमल को अम्भोज कहते हैं। अर्थात् जल में पैदा होने वाला। ये जो दोनों चरण हैं, ये भी जल में पैदा होते हैं। अंतःकरण की वृत्ति भी परमेश्वर के ही माया अंश का परिणाम है, और उसके अन्दर प्रकाशित होने से चेतन भी परमात्मा के चिद् अंश का ही रूप है। अतः दोनों इस जल से ही उत्पन्न हुये हैं। विशेषता 'मैं' की यह है कि बाकी भी सब चीज़ें उत्पन्न माया से ही हुई हैं, परन्तु बाकी चीज़ें शिव का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं, उसका ज्ञान कराने में यही समर्थ है। संसार की बाकी सब चीज़ें माया से लिपटी हुई हैं। पानी में, कीचड़ में बहुत-सी चीज़ें पैदा होती हैं, बहुत से जीव-जंतु पैदा होते हैं, कमल की विशेषता यह है कि उसमें पैदा होकर भी उसके ऊपर पानी की बूँद रहती नहीं। इसी प्रकार से 'मैं' इस बोध के अन्दर अंतःकरण के अंदर परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, और कहीं प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। जैसे काँच के अन्दर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। काँच में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ा; जब तक काँच रहता है तब तक प्रतिबिम्ब पड़ता है; लेकिन क्या वह प्रतिबिम्ब उस काँच के साथ बँधता है? काँच में दीखता है, काँच के सिवाय कहीं और प्रतिबिम्ब नहीं दीखता। फिर भी प्रतिबिम्ब उससे चिपका हुआ नहीं है, थोड़ा-सा काँच का कोना इधर से उधर हुआ तो ऐसा नहीं कि अब काँच साफ होने में दस मिनट लगेंगे, सूर्य का प्रतिबिम्ब था तो धीरे-धीरे मिटेगा! जैसे ही तुमने उसको टेढा किया, वैसे ही प्रतिबिम्ब नदारद हो जाता है क्योंकि प्रतिबिम्ब दर्पण से कभी चिपटता नहीं है। अहंकार की विशेषता यह है कि इसमें शिव का, चेतन का, प्रतिबिम्ब है। परन्तु जैसे कमल पर पानी टिकता नहीं, वैसे ही चाहे अनादि काल से इस अहंकारात्मिका वृत्ति में चेतन का प्रकाश है, परन्तु उसमें कभी चिपटा नहीं है। इसीलिये मोक्ष होने में समय अपेक्षित नहीं होता। बहुत-से लोग कहते हैं 'महाराज! इतना बड़ा बँधन है, धीरे-धीरे जायेगा।' वे समझते हैं कि अभी चिपटे हुये हैं इससे। तुम तो कभी चिपट ही नहीं सकते इससे! तुम प्रतिबिम्ब हो। अहंकारात्मिका वृत्ति में माया वाला हिस्सा भी उसी को बतलाने वाला है और जो चेतन है वह तो साक्षात् है ही। ये जो आपके चरण-कमल हैं, इनके भजन की ही मुझे याचना है, और मुझे कोई क्षुद्र फल नहीं चाहिये।

भगवान् कह सकते हैं 'यह भजन तू कर ले, इसके लिये तू मेरी इतनी प्रार्थना काहे को करता है?' अतः कहते हैं—महाराज! यह बड़ा टेढ़ा काम है। कितना टेढ़ा काम है? **'निकटभाजां'** आपके अत्यन्त निकट रहने वालों को भी दुर्लभ है। भगवान् शंकर के अत्यन्त निकट रहने वाले ब्रह्मा और विष्णु उनके ही रूप हैं। उनसे नज़दीक तो और कोई भगवान् शंकर के हो नहीं सकता। **'हरिब्रह्मादीनामपि'** हरि अर्थात् विष्णु और ब्रह्मा आदि से इन्द्र, वरुण आदि दूसरे देवता। विष्णु, ब्रह्मा जो आपके अत्यन्त नजदीकी हैं, उनके लिये भी आपके चरण-कमलों का भजन सुलभ नहीं है। उनके लिये भी कठिन है, मेरी तो बात ही क्या है।' क्यों

असुलभ है? उनको दुनिया के काम बहुत हैं! ब्रह्मा जी को सब समय देखना है कि सृष्टि हो। यद्यपि वे जब चाहें तब भगवान् शंकर के पास जा सकते हैं, क्योंकि उनके लिये आपके दरवाजे हमेशा खुले हैं, आपसे सहायता भी ले सकते हैं; तथापि संसार के सब कार्यों के अन्दर व्यग्र होने के कारण आपके चरण-कमलों का भजन असुलभ है, दुलर्भ है, उनको मौका ही नहीं मिलता, फँसे हुये हैं सब। अतः यह भजन होगा तभी जब आप ही कृपा करें।

क्षुद्र फलों की कामना नहीं होगी तभी शिव का भजन होगा–यह बात बतला दी। अतः अपने मन से सभी क्षुद्र फलों को निकालना ज़रूरी है। दूसरे देवता भी हमको फल तो दे ही सकते हैं। परन्तु **'न मन्ये'** उनसे मुझको मिल भी जाये तो मैं उसे सम्मान नहीं देता। प्रारब्ध-भोग के अनुसार सुख भी मिलेगा ही, जैसे दुःख जबरदस्ती मिलता है, ऐसे ही सुख भी जबरदस्ती मिलता है। सुख दुःख दोनों ही पुण्य-पाप के फल हैं। प्रायः आदमी दुःख के लिये तो मान लेता है; बीमार हो गया तो कहते हैं, 'भाग्य के कारण हो गया', परन्तु ठीक होने पर यह ख्याल नहीं आता कि 'मेरा प्रारब्ध अच्छा था तो मैं ठीक हो गया।' तब आता है, 'आज कल के विज्ञान ने क्या तरक्की की है, कैसे रोग दूर कर देते हैं।' विज्ञान ने तरक्की की, रोग दूर किया, तो रोग लाया कौन है? दवाई से रोग दूर नहीं हुआ–यह नहीं कह रहे हैं, लेकिन भक्त उसको इज़्ज़त नहीं देता। जो विचारशील है वह जानता है, 'जब मुझे ठीक डॉक्टर मिल गया, डॉक्टर को ठीक बुद्धि मिल गई मेरे रोग का निदान करने के लिये, निदान करने के बाद डॉक्टर को ठीक दवाई जँच गई, दवाई जँचने के बाद मुझे ठीक दुकान मिल गई जहाँ असली दवाई मिल गई, तभी मैं ठीक हुआ।' इन सारी चीज़ों की व्यवस्था तो भगवान्

ने की है। अतः वह तो इज़्ज़त देगा परमेश्वर को जिसने यह सब इंतजाम किया है। अविचारशील दूसरी चीज़ों को इज़्ज़त देने लग जाता है। इस तरह यहाँ एक पहली चीज़ बतलाई कि क्षुद्र फलों की कामना न होवे। दूसरी बात, क्षुद्र फलों की प्राप्ति जिनसे होती हो, मन में उनके प्रति इज़्ज़त की भावना न होवे।

तीसरी बात यह बतलायी कि परमेश्वर के लिये सब एक जैसे हैं, विष्णु, ब्रह्मा अत्यन्त नज़दीकी हैं, हम बहुत दूर हैं, परन्तु हमको भी उनके भजन की प्राप्ति हो सकती है। द्वैतवादी लोगों का कहना है कि भगवान् के अत्यन्त नज़दीक उनकी शक्ति राधा हैं, उसके बाद उसकी अष्ट सखियाँ हैं। भक्त को राधा का स्थान तो मिल नहीं सकता, अष्ट सखियों का स्थान भी नहीं मिल सकता। इसीलिये वे लोग कहते हैं कि भगवान् के दासों के दासों के दासों का दास भी बन जाऊँ तो संतोष कर लूँगा! ऐसा हम लोग नहीं मानते। हम तो कहते हैं कि चाहे विष्णु हों, चाहे हम हों, भगवान् के साथ तो हम दोनों का एक जैसा ही संबंध है। हमारे लिये भी वे सुलभ हो सकते हैं। ब्रह्मा के लिये भी वे दुर्लभ हो सकते हैं। यदि ब्रह्मा संसार के कार्यों में आसक्त रहेंगें तो रात-दिन उनके पास जाकर भी, भजन नहीं कर सकेंगे और अगर हम संसार के कार्यों में लगे हुये नहीं होंगे तो साधारण होते हुये भी उनके उस भजन के अधिकारी बन जायेंगे। इस प्रकार यह कहा कि परमेश्वर के चरण-कमलों का भजन सबसे दुर्लभ चीज़ है, यह अगर मिल गई तो बाकी सब चीज़ें बहुत सहज हैं, सरल हैं, असुलभ नहीं हैं; संसार में सब चीज़ें सुलभ हैं, केवल परमेश्वर के चरण-कमलों का भजन दुर्लभ है।।४।।

(५)

दुलर्भ चीज़ शिव के चरण-कमलों का भजन है अतः और कोई चीज़ नहीं केवल अनन्य भाव से आपके चरणों की सेवा की ही इच्छा है। परमेश्वर की शरणागति तब तक पूरी नहीं होती जब तक हमारे अहंकार का त्याग नहीं होता। अपनी अकिंचनता के बोध से ही हमको परमेश्वर के शरण का अनुभव हो सकता है। अन्य इच्छाओं को त्याग देने पर भी अभिमान बना रहे तो शरण नहीं ग्रहण की जा पाती। अपने में वैशिष्ट्य का ज्ञान कि, 'मुझमें योग्यता है'—इस अभिमान को छोड़ना बड़ा कठिन होता है। इस आकिंचन्य के स्वरूप को बतलाते हैं—

स्मृतौ शास्त्रे वैद्ये शकुनकवितागानफणितौ,
पुराणे मन्त्रे वा स्तुतिनटनहास्येष्वचतुरः ।
कथं राज्ञां प्रीतिर्भवति मयि कोऽहं पशुपते,
पशुं मां सर्वज्ञ प्रथितकृपया पालय विभो ।।५।।

हे पशुपति! स्मृतिग्रंथों के बारे में आस्तिक-नास्तिक शास्त्रों के बारे में, वैद्यक-शकुन-मंत्र शास्त्रों के बारे में, काव्यनिर्माण में, गान में, पुराणों के बारे में, स्तुति-नाटक-हास्य कथाओं के संदर्भ में मैं विशेष जानकारी वाला नहीं हूँ, अतः मुझपर राजाओं का प्रेम कैसे हो? मैं उनके लिये हूँ कौन! हे सर्वज्ञ! हे प्रभो! अपनी प्रसिद्ध दया से मुझ पशु का आप ही पालन करिये।

'विभो!' परमेश्वर को सम्बोधन करते हुये कहते हैं : हमारा और आपका क्या संबंध है? आप 'विभु' हैं अर्थात् व्यापक हैं अतः मैं व्याप्त हूँ। परमेश्वर और हममें व्यापक-व्याप्य-भाव संबंध है। जैसे आकाश व्यापक है और बाकी जितनी चीज़ें हैं, सब व्याप्य हैं। अतः सब चीज़ों के साथ आकाश का एक जैसा सम्बन्ध रहता

है। बाकी चीज़ों का आपस में साक्षात् सम्बन्ध नहीं है; आकाश के द्वारा तो सब के साथ सम्बन्ध है पर सीधा संबंध नहीं है। व्याप्यों का आपस में वास्तविक संबंध नहीं होता, व्यापक के द्वारा होता है। दृष्टान्त से समझ लो : मिट्टी व्यापक है, मिट्टी के जितने बर्तन हैं वे व्याप्य हैं। घड़ा, सिकोरा, परई—ये सब चीज़ें मिट्टी से तो अलग हैं नहीं, अतः मिट्टी का तो इन सबके साथ एक-जैसा संबंध है परन्तु घड़े का और सिकोरे का आपस में स्वतः कोई संबंध नहीं है। फिर भी 'दोनों एक हैं' यह कहा जाता है किस दृष्टि से? मिट्टी की दृष्टि से। मिट्टी के द्वारा घड़ा और सिकोरा आपस में सम्बन्धित हैं। सोने से गहने बनाते हो, सोना व्यापक है। जितने सोने के गहने हैं उनमें सोना तो एक जैसा है। सोना व्यापक है, गहने व्याप्य हैं। गहनों का आपस में संबंध नहीं है, गहनों का संबंध सोने के द्वारा एक-दूसरे से है। पुराने जमाने में ब्याह होता था, तो लोग पूछते थे, कितना सोना दिया? यह नहीं पूछते थे 'कि कौन-कौनसा गहना दिया?' क्योंकि *वस्तु* तो सोना है। जब कहते हो 'सोना दिया' तो सारे गहनों को सोने के संबंध वाला लेकर कहते हो। अथवा अपने अन्दर ले लो : मैं शरीर में व्यापक हूँ, सिर के बाल से लेकर पैर के अँगूठे के नाखून तक मैं एक जैसा हूँ। मैं अपने किसी अंग में न कम हूँ, न अधिक हूँ। ऐसा कुछ नहीं है कि मैं पैर में कम हूँ, सिर में ज़्यादा हूँ। पैर का घुटना दर्द करता है तो सिर के ऊपर भी बल पड़ जाता है। ऐसा नहीं है कि पैर तो नीचे की चीज़ है, इसके पीछे सिर के ऊपर कैसे बल पड़ जायेगा? इसी प्रकार, अगर आँख में दर्द होता है तो चाहे जितने थके हुये हो, डॉक्टर के पास पैर के द्वारा पहुँच जाते हो। ऐसा नहीं है कि पैर तो थक गया, दर्द आँख को है, पैर काहे के लिये जायें? सारे शरीर में 'मैं' एक-जैसा हूँ। मेरे साथ शरीर का प्रत्येक अंग संबंध वाला है। परन्तु पैर का आँख से कोई सम्बन्ध नहीं है।

पैर का आँख से संबंध मेरे द्वारा है। आँख का दर्द मुझे हो रहा है, इसीलिये पैर चलता है; घुटने का दर्द मुझे हो रहा है, इसीलिये सिर पर या माथे पर बल पड़ता है। अतः पैर का और आँख का संबंध मेरे द्वारा है। परन्तु अपने आप में कुछ नहीं है।

इसी प्रकार से परमेश्वर को यहाँ सम्बोधन किया 'विभो'। आप व्यापक हैं, मैं व्याप्य हूँ, इसीलिये आपका मेरे साथ संबंध है और व्यापक होने से जितने व्याप्य हैं उनके साथ आपका संबंध है, इसीलिये आपके द्वारा मेरा उनसे संबंध हैं। यही है शरणागति का रहस्य। जीवन में तुमको सभी चीज़ों से व्यवहार करना है, और अनेक लोगों से भी व्यवहार करना है। घोर जंगल में भी जाकर बैठोगे, तो भी तुमको फूल तोड़ने पड़ेंगे, फल तोड़ने पड़ेंगे, आग जलाकर भोजन बनाना पड़ेगा, सब कुछ करना पड़ेगा। दूसरे आदमियों से संबंध नहीं करोगे परन्तु दूसरी चीज़ों से संबंध नहीं हो, ऐसा तो होगा नहीं। दूसरे प्राणियों से भी संबंध होगा। आदमी से नहीं होगा, बस। लोग कहते हैं कि 'हम अब एकांत में रहना चाहते हैं' पर एकांत में कोई नहीं रह सकता! लोग एक का मतलब समझते हैं कि दूसरा आदमी नहीं है तो एकांत हो गया! जहाँ गीता में कहा है एकांत में रहने के लिये, **'विविक्तसेवी'** वहाँ आचार्य शंकर कहते हैं कि प्राकृतजनों के साथ नहीं रहना अथवा उनके साथ रहने का प्रयत्न नहीं करना। भगवान् के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं कि जो संस्कृत लोग हैं, उनके साथ रहना तो परमात्म मार्ग के पथिक के लिये आवश्यक है। अन्यत्र आचार्य कहते हैं कि एक उद्देश्य से जहाँ लोग रहते हैं वह एकांत है। अतः संबंध तो तुम्हारा रहेगा ही, जंगल में जाओगे, एकांत में जाओगे तो वहाँ भी चीज़ों का संबंध रहेगा ही। फिर किस संबंध को छोड़ना है? यह 'विभो'! के द्वारा बतला दिया। किसी भी चीज़ के साथ सीधा तुम अपना संबंध झूठ-मूठ मत मान लो, परमेश्वर के द्वारा ही सारे संबंध

बनाओ। घर में बच्चे हैं तुम बच्चों के रक्षक मत बन जाओ। बच्चों के माँ, बाप मत बन जाओ। बच्चों के माँ, बाप और रक्षक तो परमेश्वर हैं। उन बच्चों की रक्षा परमेश्वर करेगा। तुम वैसे रहो जैसे धाय होती है : बच्चे को सुलाती है, नहलाती है, सब काम धाय करती है बच्चे का, परन्तु किसके अनुसार? माता जैसा कहती है, जैसा बताती है वैसा करती है। इसी प्रकार तुम बच्चों की रक्षा करो, सब कुछ करो, लेकिन परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार। स्वयं तुम उनके रक्षक या माता-पिता नहीं, परमेश्वर के द्वारा हो। इसी प्रकार सारे संबंध परमेश्वर के द्वारा रखो। व्याप्य-व्यापक-भाव संबंध जब मनुष्य समझ लेता है तब सबसे व्यवहार करता है परन्तु करता है परमेश्वर के माध्यम से। अतः परमेश्वर उसकी दृष्टि से कभी इधर-उधर नहीं जाता।

'पालय विभो'! आप मेरा पालन करें, आप पालन न करें यह हो नहीं सकता क्योंकि आप व्यापक हैं, आप विभु हैं। चाहे जितना गया-बीता गहना है, टेढ़ा, मेढ़ा मुड़ गया है, किसी काम का नहीं है, परन्तु क्या वह गहना कभी सोने से रहित होता है? गहना कितना भी खराब हो जाये लेकिन व्यापक होने से सोना तो उसमें वैसा का वैसा है। ऐसा तो नहीं कि बिगड़ा हुआ गहना हो तो उसके सोने की कीमत कम हो जाये! सोना तो व्यापक होने से उस गहने की वैसी ही रक्षा करेगा। इसी प्रकार मैं कितना भी अयोग्य होऊँ, लेकिन आपको तो मेरी पालना करनी ही पड़ेगी। 'कृपया पालय विभो' आपकी कृपा प्रथित है, प्रसिद्ध है, सब जानते हैं आपकी कृपा ऐसी है कि अपने व्याप्य को कभी आप छोड़ नहीं सकते। इसीलिये आप मेरी पालना करें ही। मैं कितना अकिंचन हूँ इसको देखने की कोई आपको आवश्यकता नहीं हो सकती। क्योंकि मैं तो हूँ ही बिलकुल गया बीता। सबसे बुरी गाली देते हैं **'पशुं मां'** मैं तो पशु हूँ। आदमी को जब बहुत बुरा कहते हो तो 'यह कोई आदमी है! जानवर है' ऐसा

कहते हो। यहाँ स्वयं ही कहते हैं 'मैं तो पशु हूँ।' क्यों प्रकट कर रहे हैं कि 'मैं पशु हूँ' जबकि हरेक छिपाता है? कहते हैं—मैं करूँ क्या! 'सर्वज्ञ'! छिपाऊँ तो भी आपसे छिपना है नहीं। पशु का मतलब होता है, जो पाश से बँधा हुआ है। 'मैं' अविद्या पाश से बँधा हुआ हूँ, इसीलिये मैं पशु हूँ। मेरे अन्दर कोई वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं है।

पशुत्व को ही स्पष्ट करते हुये कहते हैं 'स्मृतौ' स्मृतियों के अन्दर हमारे सारे आचारों का वर्णन है। 'आचारः प्रथमो धर्मः' धर्म आचार से होता है—यह एक आधारभूत बात हमेशा याद रखना। हम सनातनियों के यहाँ धर्म शब्द का कुछ और अर्थ है, संसार के अन्दर आजकल जो प्रचलित है उस धर्म शब्द का कुछ और अर्थ है। वर्तमान काल में मान्यताओं को धर्म कहते हैं, तुम क्या मानते हो उसे धर्म कहते हैं। तुम हिन्दुओं की बात मानते हो इसीलिये तुम हिन्दू हो, मोहम्मद साहब की बात मानते हो, इसीलिये मुसलमान हो, ईसा साहब की बात मानते हो इसीलिये ईसाई हो। ऐसा हम लोग नहीं कहते कि वेद को मानने वाला वैदिक है। हम लोगों का कहना है **'क्रियमाणो ही धर्मो भवति'** वेद में कहे हुए कार्यों को करोगे तो वैदिक होगे। प्रायः हम लोगों से लोग कहते हैं 'आप लोग किसी को हिन्दू बनाते नहीं, सनातनी बनाते नहीं, वैदिक बनाते नहीं।' हम कहते हैं कि हम किसको बनावें? हरेक आदमी अपने को ही वैदिक बना सकता है। मैं ही कर सकता हूँ। तुम कह दो कि 'मैं वेद को मानता हूँ', आगे तुमसे यदि कोई पूछेगा कि 'वेद में क्या लिखा है?' तो बोलो कि 'यह तो महात्मा लोग जानें', तो काहे के वेद मानने वाले हो! अतः हमारे यहाँ हमेशा ज़ोर इस बात पर है कि **'आचारप्रभवो धर्मः'** जिसका तुम आचरण करते हो, जीवन में लाते हो, तुम उस धर्म का पालन करते हो, तब तुम उस धर्म वाले हो। तुम किस चीज़ को कह देते हो 'मैं मानता हूँ'; इससे तुम उस *धर्म* वाले नहीं हो जाते।

अब एक कड़वी बात कहेंगे, बुरा नहीं मानना! वैदिक धर्म कहता है, चार वर्ण हैं। ऋग्वेद के काल से ही ऐसा कहता है। आजकल लोग कहते हैं कि चार वर्ण तो 'मनु' ने बना दिये हैं। ऋग्वेद के अन्दर ही आता है **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।'** लोग कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था आज के युग की चीज नहीं है। इसीलिये हिन्दू धर्म में सुधार करके वर्ण-व्यवस्था हटा दो। वे दो बातें कह रहे हैं—एक तरफ कहते हैं कि हम वेद को मानते हैं, परन्तु दूसरी तरफ कह रहे हैं कि 'वेद में कहे ढंग से कोई करे नहीं, ऐसी व्यवस्था बना दो।' यह नहीं कहेंगे 'हम वेद को नहीं मानते।' यह कहें तो ठीक है क्योंकि यह अपनी-अपनी इच्छा है, जो तुम चाहो सो मानो। वे चाहते तो यह हैं कि उन पर वेद का ठप्पा तो रहे कि वेद को मानने वाले हैं, परन्तु वेद में कही बातें करनी न पड़े। ऐसी बात हम लोग नहीं कहते। हम लोग कहते हैं कि वेद में कहे अनुसार जो आचार करता है वह वैदिक है। जो उसके कहे अनुसार आचार नहीं करता वह चाहे जितनी धर्म की बातें करे कि 'हम हिन्दू धर्म की रक्षा चाहते हैं', वह वैदिक है नहीं। स्मृतियों के अन्दर सारे आचारों का वर्णन किया गया है। मैं पशु हूँ, आचारों को मैं करता नहीं। आचार-ज्ञान से रहित हूँ, ज्ञान ही नहीं, तो करूँगा क्या?

जब मैंने स्मृति ही नहीं पढ़ी, उसका ही आचरण नहीं कर सकता तो **'शास्त्रे'**, वेद का ज्ञान तो आयेगा ही कहाँ से! कई लोग ऐसे होते हैं जो आचार नहीं जानते, वेद नहीं जानते, परन्तु लोगों को दवाई देते हैं वैद्य हैं। उनको भी मान लिया जाता

है कि इनमें योग्यता है। कहते हैं **'वैद्ये'**। बड़े आदमियों के पास वैद्य लोग पहुँच जाते हैं भले ही आचारहीन हों। दिल्ली में एक डाक्टर था, उसने अपनी बीवी को मार दिया था, जेल हो गई उसको, वह जेल में भी आँखों का ऑपरेशन करता था और लोग जाकर करवाते थे, क्योंकि डॉक्टर बहुत अच्छा था। जो पत्नी को मारे, स्मृति और शास्त्र से तो उसका लेना-देना नहीं हैं, पर वैद्य अच्छा हो, तो उसकी भी लोग इज़्ज़त करते हैं। दूसरे के दु:ख को दूर करने की यदि किसी में योग्यता है तो वह भी योग्य माना जाता है। मेरे में वह भी नहीं है। बहुत से लोग होते हैं जो आने वाली घटना का शकुन से पता लगा लेते हैं। शकुन होते हैं, जैसे—अटारी पर बैठ कर कौआ बोला, तो मेहमान आने वाला है। मकान के पीछे बिल्ली रोए, तो कोई मरने वाला है। शकुन शास्त्र जानने वालों को भी समाज में बहुत अच्छा माना जाता है। वह भी मुझे कुछ नहीं पता। उस योग्यता को लेकर मैं यदि मानूँ मुझमें योग्यता है, तो वह भी मेरे अन्दर नहीं है।

बहुत से लोग कोई इस प्रकार के लाभदायक काम नहीं कर पाते। चिकित्सक या शकुनशास्त्री दूसरे का लाभ कर देते हैं, पहले से बतला देते हैं अथवा रोगादि को दूर कर देते हैं। कुछ लोग हैं जिनके पास लाभदायक काम तो कुछ नहीं है, कोई फायदा नहीं कर सकते हैं परन्तु दूसरे के मन को रमण करवा सकते हैं, मनोरंजन कर सकते हैं, दूसरे के मन को खुश कर सकते हैं। कवि लोग बढ़िया सुन्दर कविता करते हैं। उससे किसी का रोग दूर होता हो ऐसा नहीं है, उससे किसी को कुछ मिलता हो यह भी नहीं है। परन्तु कविता सुनकर चित्त प्रसन्न होता है, मनोरंजन होता है, मन को अच्छा लगता है। इसी प्रकार गान है, संगीत है। इस प्रकार की कोई योग्यता भी नहीं है कि किसी बड़े आदमी के पास जाऊँ। इन विद्याओं द्वारा ही वे प्रसन्न होते हैं पर ऐसी कोई योग्यता मेरे अन्दर नहीं है। कुछ लोग प्राचीन-

किस्से कहानी सुनाते हैं। कविता भी नहीं कर सकते, गाना भी नहीं गा सकते, परन्तु बैठ कर बहुत-सी पुरानी कहानियाँ सुनाते हैं। आजकल उनको कहते हैं कि 'सामाजिक' हैं। जो इधर-उधर की बातें सुनाये उससे लोग बड़े प्रसन्न हो जाते हैं। **'पुराणे'** इस प्रकार प्राचीन कथाओं को सुनाने की भी योग्यता मेरे अन्दर नहीं है। **'मंत्रे वा'** कुछ लोग मंत्रसिद्धि करते हैं। होली, दीवाली को रात भर बैठकर मंत्रसिद्धि करते हैं। कोई साँप का जहर उतार देता है, कोई बिच्छू का जहर उतार देता है, और भी तरह-तरह की सिद्धियाँ होती हैं। कहते हैं कि ऐसी कोई सिद्धि भी मेरे में नहीं हैं।

कई इन सबसे रहित होने पर भी बैठे-बैठे खुशामद करते रहते हैं। शास्त्रकारों ने कहा है **'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये'** किसी की भी बार-बार तारीफ करो तो उसके मन में होता है 'बड़ा अच्छा आदमी है।' किन्तु इस प्रकार किसी की खुशामद करना भी मुझे नहीं आता, उसमें भी मैं चतुर नहीं हूँ। अगर चतुर व्यक्ति नहीं होता है तो खुशामद करने में ही कभी ऐसी बात मुँह से कह देता है कि सामने वाले को बड़ा भयंकर दु:ख हो जाता है। कोई बड़ी उम्र का आदमी हो तुम प्रशंसा में कहो 'आप कितने बूढ़े हो गये' तो कई लोग बुरा मानते हैं। राजस्थानी में बुड्ढे को 'डोकरा' कहते हैं। एक बार किसी ने किसी को डोकरा कह दिया तो वह झगड़ा करने को तैयार हो गया। पुराने ज़माने में हम लोग 'माताजी' कहते थे। आजकल 'ऑण्टीजी' कहते हैं। पर किसी-किसी को ऑण्टी कहो तो उसको गुस्सा आता है। स्तुति करने जाओ लेकिन अगर चतुर नहीं हो तो सामने वाला खुश होने की जगह उलटे नाराज हो जाता है। इसी प्रकार से कुछ लोग, तरह-तरह के नाटकीय कार्य करते हैं, उससे भी लोग खुश हो जाते हैं। तुम्हें जुकाम हो गया। वे आकर कहेंगे 'मैं

यह कर देता हूँ, वह कर देता हूँ, पैर दबा देता हूँ, डाक्टर को बुला देता हूँ।' करना धरना उनको कुछ नहीं है! अगर उनसे कहो कि 'बुला दो' तो उन्हें बुलाना नहीं है। लेकिन ऐसा नाटक करेंगे कि तुम्हारे मन में होता है 'देखो! ये मेरी कितनी परवाह करते हैं।' भक्त कह रहा है--मेरे में वह चतुरता भी नहीं है। बहुत से लोग दूसरे को अच्छे-अच्छे विनोद के प्रसंग सुनाते हैं चुटकले सुनाते हैं, खुश करते हैं। जो उसमें भी अचतुर होता है वह सामने सिख बैठा होगा उसी को सिख का विनोद सुनाने लगेगा। उसका मुख एक दम फीका पड़ जायेगा। यह काम भी मैं कोई चतुराई से करने के योग्य नहीं हूँ।

'कथं राज्ञां प्रीतिर्भवति' कैसे किसी राजा को, बड़े आदमी को मेरे ऊपर प्रीति हो सकती है? मेरे में तो कोई योग्यता ऐसी है नहीं। न आचार की योग्यता, न शास्त्रज्ञान की योग्यता, न किसी के दु:ख को दूर करने की योग्यता, न किसी को भावी दु:ख से बचाने के लिये कुछ प्रयत्न करने की योग्यता, न कुछ दूसरे के मन को रमणीय लग सके ऐसे काव्य, गान इत्यादि की योग्यता, न व्यर्थ की खुशामद करके ही खुश करने की योग्यता, न नाटक करके ही खुश करने की योग्यता, अर्थात् मेरे में किसी भी प्रकार की योग्यता नहीं है। कैसे कोई राजा मुझसे खुश हो? और आप तो राजाओं के राजा हैं, महाराजाओं के महाराजा हैं, आपको मैं कैसे खुश करूँ? जब साधारण राजा को भी खुश नहीं कर सकता। खुश करने वाला, मैं कौन हूँ! मैं इन सब योग्यताओं से रहित होने पर भी पशु हूँ और आप पशुपति हैं। जैसे पशु को पकड़कर मालिक ले जाता है। ठीक इसी प्रकार से मुझे पकड़कर आप ले जाइये, मैं तो आपका पशु हूँ। तुम्हारी गाय है तो हमेशा तुम देखोगे कि गाय ठीक रहे। आजकल के ज़माने में तो गाय दिल्ली में कौन पालता है! लेकिन कुत्ते पालने वाले

बहुत हैं। वे कुत्तों का ध्यान रखते हैं न! इंजेक्शन लगाओ, स्नान करवाओ आदि। ऐसा कुछ नहीं है कि कुत्ता उनके लिये कुछ करे ही। हम पहले समझते थे कि कुत्ते कुछ रक्षा करते होंगे। एक बार हम कहीं थे, उनके घर में एक बहुत बड़ा कुत्ता था, सबेरे हम घूमने जाया करते थे, तो वह हम लोगों के साथ हो जाता था। हम सोचते थे कि इतना बड़ा कुत्ता है, रक्षा करने वाला है तो चलने दो। एक बार हम घूमने निकले तो एक बिलकुल मरियल देसी कुत्ता उसके ऊपर भौंककर आने लगा तो वह हमारे पैरों में छिपने लगा! हमने देखा कि यह इतना बड़ा है, पर उतने-से कुत्ते से घबरा रहा है, यह हम लोगों की क्या रक्षा करेगा? अतः रक्षा के निमित्त नहीं पालते, वह उनका कुत्ता है इसी से पालन करते हैं। इसी तरह से मैं आपका पशु हूँ और आप पशुपति हैं। मैं तो बिलकुल नालायक हूँ। पर हूँ आपका कुत्ता। आपने मेरे गले में पाश बाँध रखा है। कौन-सा पाश? मैं कैसा हूँ? चेतन हूँ। जैसे पट्टा बँधा हुआ होता है तो उससे मालिक का पता लग जाता है; रास्ते में पट्टा बँधा कुत्ता हो तो नगरपालिका वाले नहीं पकड़ते हैं, बगैर पट्टे वाला हो तो पकड़ ले जाते हैं, इसी प्रकार मैं चेतन हूँ, यह 'चेतन' किसका पट्टा है? चेतन आप हैं। मेरे ऊपर यह चेतन का जो पट्टा बँधा हुआ है इसीलिये चेतनस्वरूप मैं आपका हूँ। अतः हे विभु, हे व्यापक, आप मेरा पालन करें। शरणागति के लिये सर्वथा अपने आकिंचन्य का बोध आवश्यक है, यह यहाँ स्पष्ट किया गया। जब तक हमारे अन्दर अपनी योग्यता का भाव बना रहता है तब तक शरणागति की पूर्ण भावना आती नहीं और तब तक अनन्य भक्ति हो सकती नहीं।।५।।

(६)

जब तक अपने आकिंचन्य का बोध नहीं होता तब तक अहंकार का त्याग बनता नहीं। बहुत-से शब्दों की जानकारी का अभिमान मनुष्य को वास्तविक अनुभूति के साधनों में प्रवृत्त नहीं होने देता। शब्द याद कर लेने से 'जान लिया' ऐसा अभिमान हो जाने पर साधना अवरुद्ध हो जाती है। कठिनाई यह है कि शास्त्र के शब्दों के बिना परमात्मा का ज्ञान होता नहीं इसीलिये बार-बार श्रवण के ऊपर ज़ोर भी दिया जाता है। चाहे परमात्मा के निर्गुण रूप का श्रवण करो, चाहे सगुण रूप का श्रवण करो। पर श्रवण के बिना उसके बारे में कुछ भी पता नहीं लगेगा। **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** यहाँ आत्मदर्शन का साधन श्रवण कहा। **'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं'** यहाँ भी श्रवण को साधन बतलाया। हमारे पास नवीन ज्ञान को प्राप्त करने के तीन ही साधन हैं। एक साधन तो है प्रत्यक्ष। आँख से हमें कोई नई चीज़ दीखती है, हमको उसका ज्ञान हो जाता है। नाक से हम किसी नई चीज़ को सूँघते हैं, हमें उसका ज्ञान हो जाता है। नवीन चीज़ के ज्ञान के लिये इन्द्रियाँ आवश्यक हैं, प्रत्यक्ष आवश्यक है। प्रत्यक्ष को आधार बनाकर तथा पहले के अनुभवों को अपने सामने लाकर हम अनुमान से भी ज्ञान करते हैं। रसोईघर में हमने जब-जब धुआँ देखा है तब-तब वहाँ चूल्हे को जलते देखा है। अतः जब दूर पहाड़ के ऊपर धुआँ दिखाई देता है तब क्योंकि हमारा पहले का अनुभव है कि 'जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग हुआ करती है।' अतः धुएँ को देखकर हमें अनुमान हो जाता है कि वहाँ आग है। जाते हैं तो मिल भी जाती है। एक बार कैलास की यात्रा में रास्ता भूल गये थे। वहाँ चारों तरफ बर्फ़ ही बर्फ़ है, न आदमी, न पशु-पक्षी कुछ भी नहीं दीख पड़ रहे थे, शाम हो

गई। अकस्मात् कहीं थोड़ा-सा धुआँ दिखाई दिया। बर्फ़ के पहाड़ में दावाग्नि का धुआँ तो हो नहीं सकता, जंगल की आग का धुँआ तो हो नहीं सकता, अतः धुएँ को देख कर निश्चय हुआ कि वहाँ आग किसी न किसी ने जलाई होगी। वहाँ पहुँचे तो कोई 'भोटिया' औरत चाय बना रही थी। दूर से ही मनुष्य ऐसा लगा मानो हम शहर में पहुँच गये! ऐसी प्रसन्नता होती है। पहुँचे किससे? देखा केवल धुआँ था, परन्तु पूर्व अनुभव और विचार के द्वारा 'जरूर वहाँ आस-पास कोई मनुष्य होगा, तभी आग जलाई होगी।' इस निश्चय से पहुँचे और आदमी मिल गया। आदमी मिल गया, तो फिर आगे रास्ता मिल ही जाना था। रात भर सोने को स्थान भी हो गया। यह नया ज्ञान था कि 'वहाँ आदमी है', हुआ किससे? धुएँ को देखकर। अनुमान से भी किसी नई चीज़ का ज्ञान होता है। तीसरा साधन है शब्द। काठमाण्डू से हवाई जहाज को भगाकर ले गये। न हम काठमाण्डू में थे, न कंधार में थे, न हवाई जहाज देखा, न कोई ऐसा लिंग ही देखा कि अनुमान करते कि हवाई जहाज भगाया गया है। दुःखी भी होते रहे कि 'लोग बड़ा दुःख पा रहे हैं।' इस ज्ञान का साधन क्या था? शब्द! न वहाँ प्रत्यक्ष काम कर रहा है, न अनुमान काम कर रहा है, शब्द से ज्ञान हो रहा है। चाहे जितना विचार करके देखो, इन तीन के सिवाय चौथा अपने पास कोई साधन नहीं है, किसी भी ज्ञान का।

परमात्मा को सभी शास्त्र कहते हैं **'अशब्दमस्पर्शमरूप-मव्ययं तथाऽरसं नित्यमगंधवच्च यत्'** रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श ये सब परमात्मा में हैं नहीं। अतः परमात्मा प्रत्यक्ष का विषय है नहीं, इन्द्रियों के द्वारा तो उसको देख नहीं सकते। जिस चीज़ को हम इन्द्रियों के द्वारा जान ही नहीं सकते, उसके बारे में अनुमान कहाँ से करेंगे! हमारे यहाँ तार्किक लोग हुए हैं जिन्होंने अनुमान से ईश्वर की सिद्धि की है। जो नास्तिक थे बौद्ध, जैन इत्यादि, उन्हें ईश्वर-सिद्धि समझाने के लिये अनुमान ही उपाय

था जिसके द्वारा उनको समझा सकते थे। ईश्वर के विषय में जितने अनुमान हम लोगों ने किये हैं, उतने संसार में और किसी ने नहीं किये हैं। परन्तु सारे अनुमान कितने खोखले हैं, इस बात को भी जितना हम लोग जानते हैं, उतना कोई नहीं जानता! अतः पूर्वमीमांसकों ने ईश्वर का ऊहापोह से खण्डन किया है, जितने अनुमान हैं उनके खोखलेपन को बतलाया है। इससे कई लोगों को शंका हो जाती है कि शायद पूर्वमीमांसा ईश्वर को मानती नहीं है। इस संभावना को हटाने के लिये मीमांसकों ने अपने ग्रंथों के प्रारम्भ में ही मंगलाचरण किये। ईश्वर की सिद्धि में दी हुयी युक्तियों का खोखलापन दिखलाने के लिये युक्तिविरोध करते हैं। क्या कारण? कारण यही है कि अनुमान-सिद्ध ईश्वर को हम नहीं मानते, वेदसिद्ध ईश्वर को मानते हैं। इसीलिये भगवान् वेदव्यास ने भी ब्रह्मसूत्र में स्पष्ट किया– **'तर्काऽप्रतिष्ठानात्'** तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। अन्तिम नतीजे पर पहुँचने में तर्क मदद करता है लेकिन उस पर निर्भर कर नतीजा निकलता नहीं। उसके ऊपर विचार करते हुये आचार्य शंकर कहते हैं कि अनादि काल से एक तार्किक की बात दूसरा खण्डन करता है, दूसरे ने जो खण्डन किया उसका तीसरा खण्डन करता है, चौथा आकर के उसका भी खण्डन करता है। तब से लेकर अब तक यह खण्डन-मण्डन चल रहा है। तर्क वाले किसी एक निर्णय पर पहुँचे नहीं। अनादि काल से लेकर आगे आनेवाले भविष्य के अनन्त काल तकके सब तार्किकों को अगर इकट्ठा करके एक जगह बैठाकर भी कहा जाये कि 'तुम लोग किसी निर्णय पर पहुँचो', तो सिवाय मार-पीट के और कुछ नहीं करेंगे। फिर क्यों, हम लोग तर्क करते हैं? तर्क है कसौटी। कसौटी सोना नहीं होती है, पर 'यह सोना सच्चा है या नहीं' इसको कसौटी पर कस के देख सकते हो। इसी प्रकार से तर्क किसी नये ज्ञान को नहीं दे सकता, परन्तु हमें जो ज्ञान लग रहा है, वह ज्ञान है या नहीं–इसकी परीक्षा तर्क कर सकता है।

अतः तर्क अपने में प्रतिष्ठित नहीं है लेकिन अनुभव को ठीक प्रकार से समझने में तर्क मदद करता है। किन्तु शब्द उस नवीन ज्ञान को देता है, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से हमें नहीं हो सकता।

परमात्मा चूँकि ऐसा विषय है जो अतीन्द्रिय एवं अतर्क्य है इसीलिये परमात्मा का ज्ञान हमें शब्द से ही होगा। स्वयं श्रुति ही कहती है कि शब्द से, वेद से जब तुमने परमात्मा का श्रवण करके उसके स्वरूप को समझ लिया, तब उसको दृढ़ करने के लिये मनन करो, तर्क करो, श्रुत बोध को दृढ़ सिद्ध करने के लिये। दुधारी तलवार को कहाँ चलाना है, यह समझ लेना चाहिये। कौन दुश्मन है, किसको मारना है–यह पहले समझ लेना चाहिये। इसीलिये आचार्य शंकर कहते हैं **'श्रुतिमतः तर्कोनुसंधीयताम् दुस्तर्कात्सुविरम्यताम्'** दुस्तर्कों से तो दूर रहो पर श्रुति ने जिस बात को कहा है, वेद ने जिस बात को कहा है, उसको तर्क से सिद्ध करो, दृढ़ता के लिये। चूँकि शब्द इसका साधन है, इसीलिये शब्द का, शास्त्र का चिंतन आवश्यक है इस मार्ग पर चलने के लिये। परन्तु यह 'एलोपैथिक' दवाई है! एलोपैथिक दवाई तुम्हारे रोग को तभी ठीक करती है यदि ठीक जितना लेना है उतना लो। एक केरल के महात्मा थे, उन्हें बुखार हुआ, चिकित्सक ने आकर देखा, कहा, 'इनको मलेरिया है' उन्होंने तीन गोलियाँ रोज़ लेने के लिये दीं, सात दिन का कोर्स था, सात दिनों में वह दवाई लेनी थी। अगले दिन सबेरे उनको उल्टियाँ होने लगीं। साठ के करीब उम्र थी, शरीर से पसीना छूटने लगा। फिर डाक्टर को बुलाया। डाक्टर ने देखा, कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि अकस्मात्, क्या-कैसे हो गया। उसी बात-चीत में उन्होंने पूछा 'आपने कल तीनों गोली ली थीं? वे चुप रहे, बोले नहीं। 'ली थी?' दो बार पूछने पर बोले 'हमने सोचा, हफ्ते भर तक बीमार रह कर क्या करेंगे, हमने तो इक्कीस गोलियाँ इक्कठे ही खा लीं।' अब चिकित्सक की समझ में आया, उन्होंने उनके पेट में ट्यूब डाल कर पदार्थ सब निकाला।

इसी प्रकार, हमने जितना श्रवण किया उससे सौ गुणा विचार करके दृढ़ करना चाहिये। और हज़ार गुणा उसका ध्यान करके संस्कार दृढ़ करना चाहिये। उसके बाद आगे श्रवण करें। तब तो दवाई काम करेगी, रोग को दूर करेगी। आजकल बाजार में किताबें मिलती हैं। हमारे लिये कितनी चीज़ फायदे की है, कितनी फायदे की नहीं है—इससे तो मतलब होता नहीं अतः जैसे उस महात्मा ने इक्कीस गोलियाँ खा ली थीं वैसे दुनिया-भर की किताबें पढ़ लेते हैं। उसका नतीजा होता है कि सारी चीज़ें उनको एक-दूसरे की विरोधी दिखाई देती हैं। लोग आकर प्रश्न पूछते हैं, 'अमुक ने ऐसा क्यों किया, महाभारत में ऐसा कैसे हुआ, रामचन्द्रजी ने ऐसा कैसे किया?' हम उनसे पूछते हैं कि 'बाकी तो वाल्मीकि की जितनी रामायण है वह आपकी समझ में आ गई? खाली इतनी बात ही नहीं समझ में आई है?' तो कहते हैं 'महाराज! वह तो मैंने पढ़ी ही नहीं!' नतीजा क्या होता है? केवल विरोधी बातें उनके दिमाग में घुस जाती हैं। उन सबको निकालने में ही समय लगेगा, साधना कब करेगा? इसीलिये सबसे ज़्यादा तर्क का प्रयोग करने वाले आचार्य शंकर ही लिखते हैं

'शब्दजालं महाऽरण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात् तत्त्वम् आत्मनः।।'

शब्द, शास्त्र महान् जाल है, इसके अन्दर चित्त घूमता रहेगा तो आदमी सोचेगा कि इससे ज्ञान बढ़ा, पर बढ़ता नहीं, उलटा घटता है, क्योंकि विरोधी बातें आ जाती हैं। भगवान् ने इसीलिये गीता में सावधान किया **'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्'** जो अज्ञानी हैं उनकी बुद्धि के अन्दर तुम 'भेद' अर्थात् संशय मत डालो। लोग कहते हैं कि हिन्दू किसी मुसलमान को हिन्दू क्यों नहीं बना लेते, ईसाई को हिन्दू क्यों नहीं बना लेते? नहीं बनाने का मूल कारण ही यह है कि हम उसको मुसलमानी धर्म के दोष तो दिखा पायेंगे लेकिन सनातन धर्म में उसकी श्रद्धा

नहीं जमा पायेंगे। इसीलिये हम लोगों का सिद्धान्त यह है कि श्रद्धा को तोड़ो मत, उसकी श्रद्धा को रखते हुये उसको परम ज्ञान की तरफ बढ़ाओ। श्रद्धा तोड़ना सरल है। परन्तु श्रद्धा बनाना मुश्किल है। दूसरों की मान्यताओं को ग़लत सिद्ध कर देना तो सरल काम है परन्तु जब तुम अपनी बात को कहोगे तो उसमें भी वैसे दोष आने ही हैं। क्योंकि संसार का स्वरूप ऐसा ही है! अतः भगवान् ने कहा कि अज्ञ पुरुषों की बुद्धि में भेद मत डालो। शब्दजाल के महान् जंगल में न भटक कर परमात्मा की जो वास्तविकता है, तत्त्व है उसको जानने के प्रयत्न करो।

शब्द मात्र जानने की निष्फलता और तत्त्वज्ञान की प्राप्तव्यता ही व्यक्त करते हैं—

घटो वा मृत्पिण्डोऽप्यणुरपि च धूमोऽग्निरचलः,
पटो वा तन्तुर्वा परिहरति किं घोरशमनम्।
वृथा कण्ठक्षोभं वहसि तरसा तर्कवचसा,
पदाम्भोजं शंभोर्भज परमसौख्यं व्रज सुधीः।।६।।

हे बुद्धिमन्! घड़ा, मिट्टी का पिंड, अणु, धुआँ, आग, पहाड़, धागा—ये सब क्या भीषण मृत्यु का निवारण कर देंगे। कर्कश तर्कवचन से व्यर्थ गले का कष्ट ढो रहे हो। शंभु के चरणकमल भजो, परम सुख पाओ।

तार्किक लोग, अनादि काल से विचार कर रहे हैं—घड़ा है या यह मिट्टी का लोंदा है अथवा पार्थिव परमाणु है? सामने तो घड़ा है क्या यह सच्चा है? कुछ लोग कहते हैं घड़ा सच्चा है, कुछ लोग कहते हैं सच्ची तो इसमें मिट्टी है। घड़ा तो रूप ही है, असली चीज़ तो इसमें मिट्टी है। घड़ा सच्चा है—यह मानने वाले आरम्भवादी, मिट्टी सच्ची है—यह मानने वाले परिणामवादी। कणाद के अनुयायी आरम्भवादी हैं वे कहते हैं नयी चीज़ पैदा होती है। कपिल महर्षि कहते हैं कि अगर नयी चीज़ पैदा होती

है तब तुम पानी से ही मक्खन पैदा कर लो! दूध से ही मक्खन क्यों पैदा होता है? यही कहोगे कि दूध में मक्खन होता है इसीलिये निकलता है। तब फिर कैसे कहते हो कि *नया* मक्खन आ गया! जो दूध में था वही तो प्रकट हो गया। तिल से ही तेल निकलता है क्योकि तिल में तेल है। अतः महर्षि कपिल परिणामवादी हैं कि जो चीज़ है वही बाहर आ सकती है, नई चीज़ नहीं। कोई कहता है कि मिट्टी का लोंदा नहीं, असल में तो जो इसके परमाणु हैं वे ही सच्चे हैं। परमाणु तरह-तरह के रूप धारण करते रहते हैं। बौद्ध लोग कहते हैं कि केवल परमाणु ही तरह-तरह से मिलते रहते हैं लेकिन काम किससे चलता है? घड़ा खरीदो, पानी भर कर लाओ। घड़ा क्या है—इसके ऊपर इतना सब लम्बा-चौड़ा सोच करके कुछ फ़र्क पड़ना है क्या? यह मत समझना कि व्यवहार के लिये घड़े की सच्चाई पता लगानी ज़रूरी हो। व्यवहार तो घड़े से ही चलेगा, चाहे वह कपाल-संयोग से नवीन उत्पन्न माना जाये, चाहे मृत्पिण्ड से प्रकट माना जाये, चाहे परमाणु-संघात माना जाये। अतः व्यवहार के लिये चीज़ों की जरूरत है, *सच्ची* चीज़ें हों—यह ज़रूरी नहीं है। इसीलिये घड़े की वास्तविकता क्या है—इसका विचार करना व्यर्थ है। घड़े का प्रयोजन है पानी भरकर पानी पीना, तो बस, पानी पी लो। घड़ा क्या है—इसके विचार से क्या लाभ होगा? इसीलिये आचार्य कहते हैं **'वृथा कण्ठक्षोभं'** तार्किक लोग आपस में शास्त्रार्थ करते हैं—तो उससे गले में थकावट आती है, और कुछ लाभ नहीं। जैसे कार्य-कारण के निर्धारण में तार्किक घड़े-मिट्टी का दृष्टान्त लेते हैं वैसे **'पटो वा तन्तुर्वा'** कपड़ा-धागों का भी लेते हैं। इस प्रकार जैसे उनका विचारणीय प्रमेय-विभाग है वैसे ही प्रमाणों में वे अनुमान पर अत्यधिक चिन्तन करते हैं। विशेषकर नव्यन्याय में व्याप्ति पर जितनी चर्चा है उतनी किसी विषयान्तर पर नहीं। अनुमान का प्रसिद्ध स्थल याद दिलाया **'धूमः अग्निः अचलः'** कि पहाड़ पर धुआँ देखकर आग का अनुमान होता है।

आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि इस प्रकार के विचारों को करने से **'किं घोरशमनम्'** क्या यह जो अत्यन्त दुःखदायी संसार है यह निवृत्त हो जाता है? यह निर्णय हो भी गया कि घड़ा वास्तव में परमाणु है तो क्या संसार का दुःख निवृत्त हो जायेगा? कुछ लोग बहुत साल पहले चन्द्रमा पर पहुँचे, वहाँ से कुछ मिट्टी भी ले आये। बहुत बड़ा काम हुआ। परन्तु उसके सात महीने बाद जो वहाँ गया था उसने अपनी पत्नी को तलाक दे दिया। सब लोग यह तो याद करते हैं कि वह वहाँ गया था पर विचार करो, वहाँ जाकर फायदा क्या हुआ? आकर उसने पत्नी को छोड़ा, उससे उसको फ़ायदा क्या हुआ? पता लग गया वहाँ मिट्टी है, पत्थर है, अमुक चीज है, उससे संसार-निवृत्ति हुई? जब पत्नी के साथ ही वह प्रेम से नहीं रह सका, तो यह सब किया-कराया क्या किसी फ़ायदे का है? इसीलिये कहते हैं कि यह जो घोर संसार है, क्या इसकी निवृत्ति वह करता है? यह सारा विचार हम लोग करते हैं, इसको हम बड़ी भारी अपनी उन्नति समझते हैं, कभी नज़र डालकर देखो, क्या उसने हमारी कोई उन्नति की है? हमारे दुःखों को निवृत्त किया है? हमारे चित्त को शांत किया है? भयंकर से भयंकर परिस्थिति के अन्दर भी क्या हम निर्विकार भाव से रह सकते हैं? अगर इनमें से कुछ किया, तब तो उसको 'ज्ञान' कहा जायेगा, अन्यथा वह अज्ञान ही है।

यह सारा परिश्रम क्या करता है? **'कण्ठक्षोभं वहसि तर्कवचसा'** तेज-तेज तर्क की वाणियों का प्रयोग होता है जिससे गला सूखता है! चाहते क्या हो, इस संसार में? हर एक यही कहता है 'हम संसार में सुख बढ़ाना चाहते हैं।' चाहे तुम पूँजीवादी से बात करो, चाहे समाजवादी से बात करो, हर एक यही कहता है 'हम लोगों को सुखी करना चाहते हैं।' पर विचित्र बात क्या है? जब उनसे पूछते हैं, 'तुमने क्या किया?' कहेंगे 'इतनी सड़कें बनाई, इतने कपड़े की उपज बढ़ा दी, इतने अनाज की उपज बढ़ा दी।' वे कभी यह पता नहीं लगाते कि लोग

अधिक सुखी हुए या नहीं। सुख का पता सन्तोष से लगता है। सुख होता है जब आदमी को संतोष होता है। इसीलिये अति प्राचीन काल से हम लोग यह कहते हैं 'गौधन, गजधन, वाजिधन और रतनधन खान, जो आवे संतोषधन सब धन धूरि समान', चाहे जितनी गायें तुम्हारे पास हो जायें, चाहे जितने हाथी हो जायें, चाहे जितने घोड़े, चाहे जितने रत्न हो जायें तुम्हारा लाभ सातिशय ही रहेगा। गाय, हाथी और घोड़े की जगह आधुनिक चीज़ों को ले लो–चाहे तुम्हारे पास हैलीकॉप्टर हो जाये, जेट प्लेन हो जाये, रोल्स रॉयस गाड़ी हो जाये, लेकिन यह सब होने पर भी यदि संतोष नहीं है तो सिवाय दुःख के, कुछ नहीं होना! चाहते तो सुख हैं पर कभी देखते नहीं कि जो हम कर रहे हैं वह हमें सुख पहुँचा रहा है या नहीं? सौ रूपया कमाते थे तो सोचते थे, पाँच सौ होगा तो सुखी होंगे। तुमने पाँच सौ के लिये प्रयत्न किया, तुमने पाँच सौ कमा लिया। हम उसके लिये मना नहीं करते, लेकिन यह कहते हैं कि पाँच सौ कमाने के बाद बैठकर सोचो कि हमारा पहले से पाँच गुना सुख बढ़ा कि नहीं बढ़ा? अगर बढ़ गया, तो तुम और बढ़ाओ कोई हर्जा नहीं। परन्तु यदि नहीं बढ़ा तो विचार करो कि हमारी इस सोच में कहीं न कहीं भूल रही है। संसार के तरह-तरह के अन्वेषण करते रहेंगे तो सुख होना नहीं है। इसीलिये कहते है **'सुधीः शंभोः पदाम्भोजं भज'** अगर तुम ठीक बुद्धि वाले हो तो शंभु के चरणकमल का भजन करो। 'ठीक बुद्धि वाले' का मतलब क्या? जितना काम किया जाये उसको करके उसके फल को देखने वाला कि हम ठीक रास्ता पकड़े हुये हैं कि नहीं।' आजकल एक नई विचार-धारा और चली है! उसे मानने वाले कहते हैं कि मान लो बम्बई जाना है। रास्ते में मील के पत्थर मिल रहे हैं। पहला मील का पत्थर मिला 'तीन सौ चौवन', फिर मिला 'चार सौ चौवन', फिर मिला 'पांच सौ चौवन।' दकियानूसी (भारतीय) विचारधारा वाले पूछते हैं कि 'अरे भाई! यह बम्बई का

रास्ता है?' इस आधुनिक विचार धारा वाले कहते हैं 'बिलकुल बम्बई का रास्ता है। पहले दूरी बढ़ती चली जायेगी फिर अकस्मात् बम्बई आ जायेगा!' कोई बुद्धिमान् उनकी बात को मान लेगा? परन्तु वे लोग कहते हैं 'संसार इतना बिगड़ जायेगा, तब फिर सुधार आ जायेगा। इसको पूरा बिगाड़ना है, तब यह सुधरेगा।' किन्तु बिगाड़ से सुधार, कहाँ से आना है! सुधी का मतलब है कि जो करते हो उसका भली प्रकार से निश्चय करो, निर्धारित करो कि ठीक रास्ते हो या नहीं। सुधी तो समझ जाता है कि भगवान् शंकर के जो चरणकमल हैं उनका भजन करने पर परम सौख्य को प्राप्त कर सकते हैं, दूसरा कोई उपाय नहीं।

शंभु का मतलब **'शं कल्याणं भवति इति शंभुः'**; शं कहते हैं कल्याण को संस्कृत में। जो कल्याण-स्वरूप होता है वह शंभु है। उनके पद अर्थात् उन्हें जिनसे समझा जा सके, पाया जा सके। परमात्मा का पता बतलाने वाले जितने शब्द हैं, उतने ही हमारे काम के हैं। परमात्मा के स्वरूप को समझ लिया, तो फिर समझने के बाद जो कहा गया है उसको 'भज' अर्थात् सेवन करो। उसको भजो अर्थात् उस साधन का सेवन करो। उसका सेवन करोगे तो चूँकि वह कल्याण-स्वरूप है इसलिये तुम उस कल्याण-स्वरूप को प्राप्त करोगे और वही परम सुख है। कल्याण ही परम सुख है, श्रेय ही परम सुख है, प्रेय कभी सुख हो सकता नहीं। इसलिये कहा कि यदि सुधी हो तो कल्याण-स्वरूप परमेश्वर को समझ कर उसकी प्राप्ति के साधनों को समझो। उसके आगे अतिरिक्त चीज़ों की तरफ व्यर्थ का विचार करने में प्रयासशील मत बनो। इस प्रकार से, जो शब्दजाल के द्वारा मनुष्य के मन में आता है, 'मैंने इतना समझ लिया', उसका परित्याग आवश्यक बतलाया।।६।।

(७)

शास्त्र ज्ञान कितना भी आवश्यक हो परन्तु पर्याप्त नहीं है। अनेक चीज़ें आवश्यक होती हैं पर किसी उपयोग के लिये। धन है किसी उपयोग के लिये, अगर उपयोग सामने रखकर तुम धन-प्राप्ति करते हो तब तो उसकी सीमा है। परन्तु आदमी जब यह भूल जाता है कि धन उपयोग करने के लिये है, तब वह केवल धन कमाता है। किसलिये? वह यह भी नहीं जानता, सोचता भी नहीं। यदि कोई उसको याद दिलाने का भी प्रयत्न करे तो दुनिया-भर की बातों को सुनाने लगेगा-'कल हमको हार्ट ट्रांसप्लाण्टेड कराना पड़ेगा तो हम क्या करेंगे?' हार्ट की कोई तकलीफ है? 'नहीं, तकलीफ तो कुछ नहीं है, *अगर* हो गई तो?' उपयोग सामने है तब अर्थ की उपयोगिता है, अन्यथा धन के लिये जो तुम प्रयत्न कर रहे हो वह व्यर्थ है। इसी प्रकार से परमात्मा के स्वरूप को समझने के लिये शास्त्र की उपयोगिता है। जितने से हम परमात्मा के विषय में निःसंदिग्ध हो जायें उतनी ही शास्त्र की आवश्यकता है। अन्यथा, इस अनन्त शास्त्र जाल में फँसना निरुपयोग है। जैसे नाम रह जाता है 'बिड़ला जी थे', उन्होंने जितना कुछ कमाया सब यहीं रह जाता है, इसी प्रकार पढ़ी हुई विद्या भी यहीं रह जायेगी। 'अमुक आदमी बड़ा जबरदस्त विद्वान्' यह नाम भले ही रहे, वह विद्या उसके काम की नहीं होगी। अतः शास्त्र आवश्यक होने पर भी उसका प्रयोजन याद रखना चाहिये-शंभु के पदाम्भोजका भजन।

उनके चरणों की सेवा कैसे करनी है इसको बतलाते हैं-

मनस्ते पादाब्जे निवसतु वचः स्तोत्रफणितौ,
करौ चाभ्यर्चायां श्रुतिरपि कथाकर्णनविधौ।

तव ध्याने बुद्धिर्नयनयुगलं मूर्तिविभवे,
परग्रन्थान् कैर्वा परमशिव जाने परमतः।।७।।

हे परमशिव! मन आपके चरणकमल में रहे, वाणी स्तोत्रगान में लगी रहे, हाथ पूजा करें, कान कथा सुनें, बुद्धि आपका ध्यान करे, आँखें आपकी मूर्ति निहारें। परमशिव! इसके बाद किन साधनों से मैं अन्यान्य ग्रंथ पढ़ूँ!

परमेश्वर ने विषयों को उत्पन्न किया। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पेड़, पौधे, पक्षी, फूल, फल, पहाड़, नदियाँ, नक्षत्र, नीहारिकाएँ-ये सब उत्पन्न किये। परन्तु यह सब उत्पन्न करने का प्रयोजन क्या? तुम कोई मकान क्यों बनाते हो? मकान बनाने का प्रयोजन रहना है। अतः यह सारा जो परमेश्वर ने बनाया, इसका प्रयोजन किसी चेतन के लिये है। किसी चेतन के लिये उन्होंने बनाया। कहो, 'उन्होंने अपने लिये यह बनाया होगा?' तो भगवान् गौडपादाचार्य ने सारी सम्भावनाएँ कही हैं। उसमें स्पष्ट कहते हैं-**'आत्मकामस्य का स्पृहा'** निरन्तर अपने आत्मा में रमण करने वाले परमेश्वर को किसी चीज़ की स्पृहा हो ही नहीं सकती। 'अमुक प्रयोजन मेरा सिद्ध होगा' ऐसा परमेश्वर में हो नहीं सकता। भगवान् ने भी गीता में कहा **'नानवाप्तमवाप्तव्यं'** मेरे लिये कुछ भी प्राप्त करने के योग्य है ही नहीं और मुझे कोई चीज़ अप्राप्त भी नहीं है। परमेश्वर ने अपने लिये तो संसार नहीं बनाया। उनसे दूसरे हम लोग हैं, हमारे लिये अनेक चीज़ें अनवाप्त भी हैं, प्राप्त नहीं हुई हैं और अनेक चीज़ें हमको प्राप्त होने के योग्य भी लगती हैं। अतः इतनी बड़ी सृष्टि किसके लिये बनाई है? हम लोगों के लिये बनाई है। ऋग्वेद कहता है **'अमृतस्य पुत्राः'** हम सब उस अमरणधर्मा परमात्मा के पुत्र हैं। पिता पुत्र के लिये बनाये, यह स्वाभाविक है, सहज है। यह सारी सृष्टि परमात्मा ने हमारे लिये बनाई। इस सारी सृष्टि का अनुभव हम

कर सकें, इसके साधन भी उसने बनाये। जैसे उसने तेज बनाया वैसे ही तेज को देखने के लिये आँख बनाई। उसने स्वाद बनाया, स्वाद को लेने के लिये उसने जीभ बनाई। सारी कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर की चीज़ों के लिये तथा अंतःकरण, मन, बुद्धि, अन्दर की चीज़ों को जानने के लिये बनाये। अगर वह चीजें न बनाता तो हम इन इन्द्रियों को लेकर भी करते क्या? और चीज़ें बनी होतीं पर हमारे पास करण न होते, साधन न होते, तो भी हम क्या करते! सुन्दर से सुन्दर स्त्री हो, और पति जन्मांध हो तो उस स्त्री का रूप किसी काम का है? परमेश्वर ने समग्र ज्ञान के साधनों को हमें दिया और ज्ञान करने के लिये चीज़ें दीं, विषय दिये। विचार करो; जिसने हमारे लिये इतना सब कुछ किया, यदि हम उन इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करते समय, भोगते समय, उसको स्मरण नहीं करते हैं तो इससे ज़्यादा कृतघ्नता क्या होगी! न हमने कोई विषय बनाया, न इन्द्रिय बनायी। हमारी सामर्थ्य इतनी ही है कि भगवान् के दिये विषयों से उन्हीं की दी इन्द्रियों द्वारा कुछ व्यवहार कर लें। सामर्थ्य इतनी ही कि पत्थर चुन-चुन महल बना सकते हैं, पत्थर हमने नहीं बनाया। उसी में हम घमंड में फूले रहते हैं कि हमने बनाया। न तो हम कोई पदार्थ बनाने के योग्य हैं, बना ही नहीं सकते, और न हम किसी इन्द्रिय को बनाने के योग्य हैं। और विषय व करणरूप इन दोनों चीज़ों के बिना हम न कर्ता हैं न भोक्ता हैं। आदर्श तो यह है कि हर चेष्टा हम उसी रचयिता के लिये करें। यह न भी कर सकें तो कम-से-कम इनका उपयोग परमेश्वर के लिये करने का प्रयत्न करें ही। उसका भजन करना है अर्थात् समग्र सामग्रियों का उपयोग किसी-न-किसी प्रकार से उनसे सम्बन्धित करना है।

'मनस्ते पादाब्जे निवसतु' मन आपके चरणों में निवास करे। आगे चूँकि आना है 'तव ध्याने बुद्धिः' अतः मन और बुद्धि

का भेद कर रहे हैं। मन को अपर ब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्म, ईश्वर के चिन्तन में लगाना है और आगे बुद्धि को उसकी जो वास्तविकता है, चिन्मात्ररूपता है, उसके निश्चय में लगाना है। आचार्य शंकर ने इस चीज़ को स्पष्ट कर दिया कि हम मन से अपरब्रह्म की बात कह रहे हैं, बुद्धि से परब्रह्म की बात कह रहे हैं। 'पादाब्ज'-शब्द के द्वारा स्पष्ट कर दिया : आपके चरणों में मन लगे और आप में बुद्धि लगे। वहाँ चरण नहीं कहे, थोड़ा-सा भेद कर दिया। मन ही हमारे समग्र प्रेम का केन्द्र है, इच्छा का केन्द्र है। बुद्धि ज्ञान का केन्द्र है, निश्चयात्मिका बुद्धि है। मन संकल्पात्मक है। मन प्रेम का केन्द्र है, इच्छा का केन्द्र है, क्योंकि इच्छा संकल्प से ही होती है। ज्ञान होता है विषय से। सामने गुलाब का फूल है इसीलिये गुलाब का फूल दीखता है। हम कुछ नहीं *कर* सकते ज्ञान के लिये, जैसी चीज़ होगी वैसा ही ज्ञान होगा। इसीलिये आचार्य शंकर ने अन्यत्र कहा है— **'वस्त्वधीना भवेद् विद्या'** वस्तु के अधीन ज्ञान होता है, तुम्हारी इच्छा कुछ नहीं कर सकती, तुम कुछ नहीं कर सकते। रास्ते में जा रहे हैं, तीन दिन से एक गधा मरा पड़ा है, सड़ी बदबू आ रही है, क्या कर सकते हो? सड़ी बदबू ही लेनी पड़ेगी। छोटा-मोटा कीड़ा होता तो शायद दो चार पग चले जाते साँस रोक करके। गधा सड़ रहा है तो वह कम-से-कम आधी फर्लांग दोनों तरफ सड़ाँध फैलायेगा, उतनी देर नाक भी बंद नहीं कर सकते! वहाँ संकल्प का कोई काम नहीं। जैसी चीज़ है, वैसा ज्ञान होगा, तुम कुछ नहीं कर सकते। परन्तु इच्छा संकल्प के द्वारा ही होगी। अतः इच्छा की उत्पत्ति का स्वरूप बतलाते हुये भगवान् ने गीता में कहा—कामना किससे उत्पन्न होती है? जिस चीज़ में आसक्ति होगी, जिस चीज़ के साथ संग होगा, उसी की कामना होगी। कामना विषय के अधीन नहीं है। इस बारे में भ्रम मन से निकाल देना चाहिये। अधिकतर लोग कहते हैं 'महाराज,

क्या करें! चीज़ होती है तो इच्छा हो ही जाती है।' इस बात में कोई तत्त्व नहीं है। आजकल प्रायः दिल्ली के घरों में बड़े तिलचट्टे होते हैं। बड़ा पुराना प्राचीन प्राणी है, संसार के प्राचीनतम प्राणियों में यह है। पर क्या कभी तुमको उसकी कामना होती है? अगर चीज़ों के होने मात्र से कामना होने लगे, तो लोगों को तिलचट्टों से प्रेम हो जाय! भगवान् ने कहा कि वस्तु होने से कामना नहीं है, आसक्ति होती है तब कामना होती है। आसक्ति कैसे होती है? जिस विषय का तुम बार-बार संकल्प उठाओगे, ध्यान करोगे, उसमें आसक्ति हो जायेगी। ध्यान मायने बार-बार उस चीज़ का संकल्प उठाना। जिस चीज़ का तुम बार-बार संकल्प करोगे उसी के प्रति आसक्ति हो जायेगी। आसक्ति से इच्छा होगी। संकल्प करना—यह मन का काम है, अतः कामना का केन्द्र मन है। जब कहते हैं **'ते पादाब्जे मनः निवसतु'** तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि बार-बार अपरब्रह्म का जो रूप है, सगुण ब्रह्म का जो रूप है, उसके बारे में ही संकल्प उठाने का प्रयत्न करो, उसके प्रति ही आसक्ति को बढ़ाओ, जिससे उनको प्राप्त करने की इच्छा हो।

जहाँ—जहाँ उपनिषदों के अन्दर ब्रह्म का लक्षण किया है वहाँ सर्वत्र लक्षण में तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण दोनों कहे हैं। प्रायः तटस्थ लक्षण से प्रारम्भ करके फिर स्वरूप लक्षण में जाते हैं। तटस्थ लक्षण अर्थात् परमात्मा का ज्ञान कराने वाला लक्षण। वह साक्षात् परमात्मा को बतलाने वाला लक्षण नहीं है। ऐसे समझ लो : किसी ने हमसे पूछा 'देवदत्त का मकान कहाँ है?' श्रीराम रोड में तो पहुँच गया, गली में तो पहुँच गया, अब देवदत्त का मकान कौन-सा है? हम कहते हैं 'वह जो लाल गाड़ी खड़ी है बस, वही देवदत्त का मकान है।' उस आदमी ने देवदत्त के मकान को पहचान लिया। जो उसको काम करना था वह करके चला गया। हफ्ते भर के बाद उसका लड़का वहाँ किसी काम से भेजा गया; 'पिताजी उस घर का ठिकाना बताइये?' कहता है 'श्रीराम रोड पर जाना और जहाँ लाल गाड़ी खड़ी है वह उसका मकान है।' लड़के को क्या मकान मिल जायेगा? क्योंकि लाल गाड़ी से उसकी पहचान तो हुई थी पर वह उसका स्वरूप नहीं था। गाड़ी से पहचान सीधी हुई, और कुछ बतलाते तो इतनी जल्दी मकान पहचान में नहीं आता, परन्तु लाल गाड़ी उस मकान का स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार से परमेश्वर का तटस्थ लक्षण परमेश्वर की खट पहचान करा देता है परन्तु तटस्थ है इसीलिये हमेशा नहीं रहता है। भृगु महर्षि अपने पिता वरुण महर्षि से जाकर पूछते हैं। 'हमको ब्रह्म का उपदेश दीजिये।' वे उनको तीन अलग-अलग लक्षण बतलाते हैं। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म'** जो इस सारे संसार को उत्पन्न करता है, यह एक लक्षण है; सब समय तो उत्पन्न नहीं करेगा! इस संसार की रक्षा करना भी लक्षण है पर ऐसा भी सब समय नहीं करेगा, उत्पन्न करने के बाद ही रक्षा करेगा। 'इस सारे संसार का संहार करना' भी लक्षण है। तीन लक्षण अलग-अलग बतला रहे हैं। उत्पन्न करने वाला, रक्षा करने वाला, संहार करने वाला ब्रह्म है। इतना कह करके शांत नहीं हो गये वे, उसके बाद तुरन्त कहा कि वह क्या है—इस बात को समझने के लिये प्रयत्न करो। अर्थात् इन तीनों कार्यों को करने में एक जैसा रहने वाला जो परमात्मा, उसके *स्वरूप* को समझो। इनमें से किसी एक ही काम को करने वाला परमात्मा नहीं हैं। मोटी भाषा में पौराणिक भाषा में समझ लो : अगर हम कहें कि जो दुनिया को बनाता है वह परमात्मा, तो कहोगे 'ब्रह्माजी होंगे।' हम कहें कि दुनिया की रक्षा करता है वह परमात्मा, तो कहोगे 'विष्णुजी होंगे।' हम कहें जो दुनिया का संहार करता है वह परमात्मा, तो कहोगे 'शंकरजी होंगे।' ब्रह्माजी, विष्णुजी, शंकरजी—ये तीन हुये। परन्तु

वरुण कह रहे हैं **'तद् ब्रह्म'** वह ब्रह्म एक है, उसका पता लगाओ कि वह कौन है जो ब्रह्मा भी है, विष्णु भी है और शंकर भी है। जिस एक तत्त्व का पता लगेगा वह परमात्मस्वरूप है। यहाँ सृष्टि आदि से महासृष्टि आदि की तरह हर क्षण जो पदार्थों की सृष्टि आदि हो रही है उन्हें भी करने वाला परमेश्वर ही विवक्षित है। इस सारे सृष्टिचक्र के अन्दर जो सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला है तटस्थ रूप से यह अपर ब्रह्म हुआ। यह उसका लक्षण हुआ।

बार-बार उसका संकल्प करो। पहले हम लोग इसकी शिक्षा देते थे। पुराने लोगों को पूछते थे कि 'ये आपके बच्चे होंगे' तो जवाब होता था 'भगवान् के दिये हैं।' 'यह आपका मकान है?' 'भगवान् का दिया हुआ है।' जवाब ही यह होता था। अब बिना पूछे, अपनी तरफ से कहेंगे 'मेरी पत्नी से और बच्चों से मिलिये।' भगवान् से लेना-देना नहीं है। किसका मकान है? 'मैंने खुद इसकी योजना करके बनाया है।' कई बार लोग कहते हैं 'महाराज, उस ज़माने में लोग कहते होंगे, मन से तो ऐसे ही सोचते होंगे कि हमारा है?' हम कहते हैं, तुम्हारी बात मान भी ली, परन्तु कम-से-कम सच्ची बात को झूठे मन से भी कह रहे हो तो बात सच्ची कह रहे हो। सच्चे मन से सच्ची बात कहो तो श्रेष्ठ है। परन्तु यदि तुम झूठे मन से भी कहो तो सच्ची बात कहो। ये तुम्हारे बच्चे हैं—तुम कह रहे हो। आज से तीस साल पहले इनमें से कौन कहाँ था तुमको कुछ पता है? आज से तीस साल बाद तुम यहाँ से चले जाओगे तो कभी पन्द्रह पैसे का पोस्ट कार्ड भेजोगे कि 'हमारे बेटे, क्या बात है।' तुम्हारे ये हो कहाँ से गये! बिलकुल झूठी बात बोल रहे हो, पहले इस प्रकार से शिक्षा दी जाती थी, जिसमें हर चीज़ में हमारा ध्यान परमात्मा की तरफ जाये। जब इन बातों को इस प्रकार से व्यवहार में लाओगे तो इसका चिन्तन चलेगा, जबरदस्ती भी चलेगा। गीता

के **'ध्यायतो विषयान् पुंसः'** को वर्तमान व्यापारियों ने, टेलीविज़न वालों ने खूब समझकर रखा है! रामायण दिखायेंगे, उसके पहले अपनी चीज़ों का विज्ञापन दिखायेंगे, उसके बीच में दिखायेंगे अंत में दिखायेंगे ताकि तुम्हारा बार-बार उसके बारे में संकल्प बने। संकल्प बनेगा तो एक दिन खरीदोगे। उपयोग, आवश्यकता के बिना भी पुनः पुनः प्रशंसा देख-सुनकर व्यक्ति पदार्थ बटोर लेता है। इसी प्रकार हम लोग अपने बोलने-चालने में बार-बार उधर मन ले जाते थे जिससे कभी-न-कभी सच्ची जिज्ञासा भी हो जाये।

सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्द वस्तु परमेश्वर है। सृष्टि आदि उसका स्वरूप नहीं वरन् लीलायें हैं। ये उसने किसी छोटे-से कालखण्ड में करके छोड़ नहीं दी, आज भी कर रहा है। जब हम बच्चे को पढ़ने भेजते हैं, समावर्तन करते हैं, तब उसको उपदेश देते हैं **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।'** मेरे शरीर को माँ ने पैदा किया, इसमें कोई बहुत ज़्यादा कल्पना करने की ज़रूरत नहीं है। शरीर माँ के शरीर से पैदा हुआ है, उसने मुझे पैदा किया। वात्सल्य भाव से मेरे को अपने स्तन पिलाये, टट्टी-पेशाब साफ किया। मेरे दाँत आने लगे तो स्तनपान करते हुये मैं दाँत का प्रहार कर देता था, गुस्सा आये तो काट दिया! क्या उसने दूध पिलाना बंद कर दिया? घाव के ऊपर घी आदि, लगा कर, दूसरी तरफ का स्तन पिलाया। यह सब माँ ने मेरे साथ किया। सृष्टि, स्थिति, प्रत्यक्ष में दीख रही है। कौन उसको शक्ति दे रहा है? यदि उसमें परमेश्वर विद्यमान न हो तो कहाँ से ऐसा होगा? माता को देखते ही उसके द्वारा तुमको परमात्मा का स्मरण आयेगा यदि तुम याद रखोगे कि जो इस प्रकार से रक्षा करने वाला, सृष्टि करने वाला, वह परमात्मा है। **'पितृदेवो भव'**। हम कुछ नहीं जानते थे, अंगुली पकड़ कर चलना हमें बाप ने सिखाया। और भी नाना प्रकार से हमको बड़ा किया।

पिता नौकरी करते थे, बच्चे की शिक्षा के लिये कुछ पैसे की ज़रूरत पड़ी तो दिन भर का काम करके 'पार्ट टाइम' काम करने लगे। यों पालन करने की शक्ति कहाँ से आ रही है? यह सब परमेश्वर की लीलाएँ हैं। उन्होंने किसी प्राचीन शास्त्रादि प्रसिद्ध काल में या परिस्थिति में क्या-क्या लीलायें की थीं उनका भी स्मरण करो और क्या-क्या लीलाएँ हम रात-दिन देख रहे हैं उनका भी चिन्तन करो। हम उसी की लीलाएँ देख रहे हैं, ऐसा नहीं कि उसने लीला की और ख़त्म हो गई, आज भी हो रही हैं। **'आचार्यदेवो भव'**। कहाँ-कहाँ से गुरु ने ज्ञान एकत्रित किया, दुनियाँ भर के फूलों से रस को एकत्रित करके मक्खी शहद हमें देती है, ऐसे ही शास्त्रों से ज्ञान एकत्र कर स्वानुभव से परिष्कृत कर गुरु ने हमें समझ दी, हमारी पालना के लिये। अगर उतना सब हमको ढूँढ़ना पड़ता, तो क्या सम्भव था? सृष्टि-स्थिति प्रलय करने वाला इन रूपों में दीख रहा है कि नहीं दीख रहा है? इस प्रकार, उस अपर ब्रह्म की अनन्त लीलाएँ जो पहले हो चुकी हैं, उन्हें सोचो, वर्तमान में जो हो रही हैं उनको सोचो।

आगे भी ये लीलाएँ ऐसी ही होती रहेंगी। नये-नये रोग आते हैं उन रोगों की औषधियाँ कहाँ से निकल आती हैं? जिसने रोगों की सृष्टि की, उसी ने हमारी पालना के लिये औषधियों की भी सृष्टि की। जिसने बड़े-बड़े मारने के लिये अणुबम बनाये, उसी ने उनको रोकने के लिये तरह-तरह के औजार भी बनाये। दोनों करने वाला वही है। हर समय जब इस प्रकार, हमारे मन का संकल्प चलेगा तब मन भगवच्चरणों में रहेगा। ऐसा संकल्प *करना* है; आयेगा तो तुम्हारे मन में खाली यह कि माँ है; संकल्प करना है कि 'यह ईश्वर है।' यही ध्यान है। सामने तो पत्थर की मूर्ति खड़ी है, तुम संकल्प ही करते हो कि ये विष्णु हैं। वे तो बैठे हुये हैं वैकुण्ठ में! तुम्हें संकल्प करना है कि ये विष्णु हैं। इसी प्रकार से सामने तो बैठी हुई है औरत पर तुमको संकल्प

करना है कि 'मेरी माँ ईश्वर है।' ऐसा नहीं है कि एक बार यशोदा ने कृष्ण का पालन कर लिया और आज हमारा पालन नहीं हो रहा है! परमात्मा आज भी उसी प्रकार हमारी रक्षा करता है। इस तरह चिंतन से परमात्मा में आसक्ति, प्रेम होकर परमात्मा की कामना होगी।

अधिकतर लोग भगवान् को कैसे पाना चाहते हैं? गाँव जा रहे हैं, अगर रास्ते में बढ़िया आम का फल मिल जाये तो कोई हर्जा नहीं है, ले लेंगे, खा लेंगे। इसी प्रकार अधिकतर लोग सोचते हैं कि 'संसार के सब कार्य हमारे ठीक सम्पन्न होते रहे साथ ही अगर मोक्ष भी मिल जाये तो ले लेंगे कोई हर्जे की बात नहीं है! हम मोक्ष के विरोधी नहीं हैं, पर जाना तो हमें गाँव है।' जो इस प्रकार की जिज्ञासा है, परमात्मा के प्रति भावना है, उससे परमात्मा मनुष्य शरीर में तुरन्त मिल जाने की सम्भावना तो की नहीं जा सकती, वरन् बार-बार उसके बारे में संकल्प वृत्तियाँ उठाते रहने से अन्ततोगत्वा मन उनके चरणों में ही रहने लग जायेगा। अभी तो मन निवास कर रहा है संसार में, और वृत्ति बनानी पड़ रही है परमात्मा की; और फिर मन निवास करेगा परमात्मा में, जबरदस्ती किसी प्रारब्धभोग के कारण विषयाकार वृत्ति बनेगी परन्तु जैसे ही विषयाकार वृत्ति समाप्त होगी खद् से पुनः वह परब्रह्म परमात्मा में पहुँच जायेगी। हम लोग एक तीव्र साधक की स्थिति को समझ नहीं पाते। लगता है कि 'संसार की आवश्यकताएँ तो उनको भी हमारी तरह ही अनुभव होती होंगी।' बात बिलकुल विपरीत है! जितना मुश्किल तुमको लगता है बैठकर परमात्मा का पाँच-दस मिनट ध्यान करना और तुम कहते हो 'पूरा मन बैठता नहीं', उसी प्रकार से जो परमात्मा में निवास करने वाले मन वाले हैं, वे बड़ी कठिनता से किसी सांसारिक विषय के बारे में थोड़ी देर तक ज़ोर लगाकर सोचते हैं और तब भी बीच-बीच में विषय छूट जाता है। जैसे ही

अत्यावश्यकता ख़त्म हुई, वैसे ही उनका ध्यान परमात्मा में चला जाता है। परमात्मा के दिये हुये मन से इस प्रकार भजन करना है, परमात्मा की सेवा में लगाना है, इस प्रकार मन के संकल्पों को बनाना है।

सत्त्वगुण से ही परमात्मा में प्रेम आता है। जितना-जितना सत्त्वगुण होता है उतनी-उतनी परमात्मा की तरफ़ प्रवृत्ति होती है। रजोगुण से संसार की ओर प्रवृत्ति होती है, तमोगुण से केवल आलस्य की तरफ प्रवृत्ति होती है। इसीलिये प्रवृत्ति का न होना निवृत्ति नहीं है। जैसे राग का न होना वैराग्य नहीं है। वैराग्य एक भाव वृत्ति है। उसी तरह से प्रवृत्ति का न होना निवृत्ति नहीं है। प्रवृत्ति का न होना तो आलस्य का रूप है, प्रमाद है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का फ़र्क करते हुये आचार्य मधुसूदन सरस्वती गूढार्थदीपिका में लिखते हैं कि 'परमात्मा के लिये जो कुछ किया जायेगा वह निवृत्ति होगी और अनात्मा के लिये जो कुछ किया जायेगा वह प्रवृत्ति होगी।' अतः निवृत्ति निवृत्ति की परमकाष्ठा जिसको सर्वकर्म-संन्यास कहते हैं, उसमें भी शास्त्र ने करने को कहा है–

'आसुप्तेरा मृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया।
क्वचिन्नावसरं दत्वा कामादीनां मनागपि।।'

जब तक नींद में न चले जाओ तब तक निरन्तर उपनिषदों का श्रवण-मनन करो। कितने दिन तक करें, छह दिन करके एक दिन रविवार मना लें? तो कहते हैं नहीं, जब तक मर नहीं जाओ तब तक करते रहो! न रुग्णतावकाश ले सकते हो न प्रसवावकाश ले सकते हो। इस प्रकार निरन्तर लगना–यह निवृत्ति है, यह उसकी चरमकाष्ठा अर्थात् सर्वकर्मसंन्यास। खाने के समय में भी वेदान्तचिन्तन को नहीं छोड़ सकते। उत्तरकाशी में पहले रहते थे अवधूतजी, वे कहते थे 'मैं तो शौच जाते समय भी उपनिषदों का ही पाठ करता हूँ। कोई कहता रहे कि इस समय नहीं करना

चाहिये, अशुद्धि का काल है, पर मैं तो करता हूँ क्योंकि कहा है **'आसुप्तेः'**, शौचादि के समय नींद तो आई हुयी नहीं है!' परमात्मा के लिये करना निवृत्ति, परमात्मा को छोड़ कर संसार के लिये करना प्रवृत्ति। तमोगुण के अन्दर तो आलस्य निद्रा आदि का प्रकोप रहता है। परमात्मा की तरफ ऐसी निवृत्ति तभी बन सकती है जब उसके प्रति तीव्र आसक्ति होवे। अतः पहले कहा कि मन वहीं निवास करने लग जाये। भोजनादि प्रारब्ध कर्म जब जबरदस्ती प्रवृत्त करें, तो थोड़ा-सा बाहर जाये पर पुनः निवास वहीं रहे।

'वचः स्तोत्रफणितौ' 'वचः' वाणी उनके स्तोत्रों के पाठ में लगे। मनुष्य के अधिकतर संस्कार शब्दों में ही रहते हैं। हम लोग जो कुछ भी सोचना चाहें, याद करना चाहें, तो अधिकतर हमें शब्दों में ही स्मृति आती है। 'रसगुल्ला खाया था, मीठा था', यह तो खट् याद आ जायेगा कि मीठा था, पर उसके *स्वाद* को याद करने का प्रयत्न करो तो मुश्किल से ही आयेगा। 'कैसा मीठा था?' यह जल्दी याद नहीं आयेगा, प्रयत्न करना पड़ेगा। हम लोगों की स्मृति अधिकतर शब्द में ही रहती है। तुमने यदि परमेश्वर के अनेक स्तोत्र याद कर रखे हैं तो उनकी याद आने से परमेश्वर ही स्मृत होगा। वेदों के हज़ारों मंत्र परमेश्वर की स्तुति के ही हैं। हम लोगों का जितना बड़ा परमेश्वर के स्तोत्रों का साहित्य है, संसार के किसी मत मतान्तर मजहब में नहीं है। वेद तो सारे हैं हीं, उसके बाद पुराणों के अन्दर बहुत स्तुतियाँ आती हैं, सब ऋषियों ने स्तुतियाँ की हैं, आगमों में स्तुतियाँ भरी पड़ी हैं और प्रत्येक भाषा के अन्दर परमेश्वर की अनेक स्तुतियाँ हैं। पहले गाँव में सबेरे जब औरतें चार बजे उठती थीं तो चार बजे से हरजस गाना शुरू करती थीं। जिसको तुम लोग भजन कहते हो, ग्रामीण भाषा में उसको हरजस कहते हैं, हरि के यश

का गान। सबेरे उठ कर हरजस गाना उनका शुरू होता था, जब तक भोजन नहीं बन जाता था, साढ़े आठ बजे तक चलता ही रहता था! स्नान करने गये तो, स्नान करके आये तो, दूध-दही मथने लगे तो, चक्की चलाके आटा पीसने लगे तो, चावल बीनने लगे तो, वह चलता ही रहता था, कितना उनको याद होता था, कोई ठिकाना नहीं! नतीजा होता है कि जब तुम उन शब्दों का बार-बार उच्चारण करोगे तो उन्हीं अर्थों का भान होगा, वाणी उधर लगी रहेगी। बूढ़े हो जाओगे तो अपने-आप उन्हीं शब्दों का तुम्हारे मन में प्रवाह चलेगा, स्वभावतः तुम्हारा वही चिन्तन चलेगा, नहीं तो दुनीयाँ के बेकार के चिन्तन उन्हीं शब्दों से करने लग जाओगे। वैदिक, संस्कृत के और लौकिक भाषाओं के इतने विभिन्न स्तोत्र हैं कि उस भिन्नता के कारण स्तोत्रों से आदमी ऊबता नहीं है। हम लोगों का मानना है कि एक ही शब्द को बार-बार कहते रहो तो थोड़ी देर में ऊब जायेंगे! संस्कृत के अन्दर समानार्थक शब्द बहुत होते हैं, एक ही बात को कहने के पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस शब्द होते हैं। जो शब्द एक बार लिख दिया, उसको फिर नहीं लिखना पड़ता है, दूसरे उपस्थित हो जाते हैं। एक ही शब्द तुम्हारे सामने बार-बार आता है तो कुछ जी ऊबता है, परन्तु भिन्न-भिन्न स्तोत्रों के अन्दर भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव और शब्द होने से कभी भी ऊबता नहीं है। स्तोत्र साहित्य इसीलिये इतना बड़ा है। इतना याद रखना कि नित्य पाठ के भी स्तोत्र होते हैं। भिन्न-भिन्न स्तोत्र पढ़ो, सबके अलग-अलग भाव हैं, अर्थ हैं। परन्तु नित्य पाठ करने के भी स्तोत्र रखने चाहिये। कारण इसका यह है कि हर बार जब तुम नया स्तोत्र पढ़ते हो तब शब्दों और अर्थों का किस क्रम से सम्बन्ध है, अन्वय है, उसमें कौन-से अलंकार स्पष्ट हो रहे हैं इत्यादि बातें तुम्हारे दिमाग में घूमने लगती हैं, तो फिर परमात्म-चिन्तन नहीं हो कर, साहित्य-चिन्तन होने लगता है! परन्तु जिस

स्तोत्र का तुमने साल भर तक रोज़ पाठ किया है उसके बारे में ये जितने चिन्तन हैं वे सब तीन सौ पैंसठ बार तुम कर चुके अतः अब यह पढ़ोगे तो केवल अर्थ की तरफ ध्यान जायेगा, अब अन्वय अलंकार इत्यादि का भान नहीं होगा। अतः नियमित पाठ करने का हिस्सा भी रखना चाहिये। परन्तु साथ में चित्त में किसी प्रकार का ऊबने का भाव न आवे इसके लिये नये-नये स्तोत्रों का पाठ भी करना चाहिये।

स्तोत्रों को याद करना चाहिये। याद करना जानते हो? रटना, जो आजकल लोग नहीं करते! कहते हैं 'किताब में देख लेंगे'। सड़क पर चल रहे हो, किताब देखोगे तो ट्रक से टक्कर खा जाओगे! रेल में चल रहे हो, सौ पेज की किताब साथ में है। कहीं गाड़ी अटक गई, छह घण्टे लेट हो गई, वह तुमने सौ पृष्ठ की पुस्तक तो पढ़ ली, उसके बाद क्या करोगे? तुम्हारे पास यदि रटी हुई चीजें हैं तो बैठे-बैठे उनको बोलते-सोचते चले जाओगे। कम-से-कम दस हज़ार श्लोक तो आदमी को याद होने ही चाहिये। फिर कभी यह मुसीबत नहीं आयेगी कि 'क्या करें?' चाहे बस में जा रहे हो, चाहे जहाँ जा रहे हो, पाठ करने लग सकते हो। परमात्मा की स्तुति को छोड़कर अन्य किसी की स्तुति में वाणी का प्रयोग नहीं करो। जैसे मन के लिये कहा कि सामान्यतः निवास तो हो परमात्मा के चिंतन में, प्रारब्ध-भोग के कारण भले ही बाहर जाना पड़े परन्तु तुरन्त वापस वहीं लौटो, इसी प्रकार व्यवहार चलाने के लिये वाणी का प्रयोग करना पड़ेगा, रेल के टिकट की खिड़की में जाओगे तो कहना पड़ेगा, 'बनारस का टिकट दो', लेकिन इतना ही आवश्यक प्रयोग करो। टिकट की खिड़की तक पहुँचने तक स्तोत्र का पाठ चलता रहे। जैसे ही टिकट मिल जाये, फिर उस स्तोत्र को आगे चालू कर दो। **'वचः स्तोत्रफणितौ'** 'निवसतु' का यहाँ पर भी सम्बन्ध कर लेना।

जैसे वाणी कर्मेन्द्रिय है वैसे प्रधान कर्मेन्द्रिय है हाथ। हाथ के द्वारा क्या करो? '**करौ चाभ्यर्चायाम्**' हाथ के द्वारा उनका पूजन करो, अभ्यर्चा करो। महर्षि आपस्तंब ने अपने धर्मसूत्र में लिखा है '**अथ महापुरुषपूजाविधिं व्याख्यास्यामः**'; जब तुम्हारे घर में कोई बड़ा आदमी आवे तब तुम उसका जैसे स्वागत-सत्कार करते हो वैसे महादेव का करना पूजा या अभ्यर्चना है। मानो तुम्हारे घर अटलबिहारीजी ने चिट्ठी लिखी, 'हम आपसे मिलने आ रहे हैं', तो उनके लिये तैयारी करोगे। जैसे उनके लिये तैयारी करोगे वैसा ही समझ लो कि तुम परमेश्वर के लिये कर रहे हो। अतः यह घबराने की जरूरत नहीं है कि पूजा में हम कुछ गलती करेंगे तो क्या होगा। देवताओं का पूजन करने में तो तुमको नियमबद्धता रखनी पड़ती है परन्तु परमेश्वर की पूजा के अन्दर ऐसा नहीं है। गीता में भी इसीलिये भगवान् ने कहा–

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ।।'

भगवान् ने कहा पत्ता, फूल, फल, पानी–इन्हें जो भक्ति से मुझे देता है, मैं ग्रहण कर लेता हूँ। यह नहीं कहा कि ये चार भी ज़रूर हों! इनमें से कोई एक हो, तो भी कोई बात नहीं। इनमें से कुछ भी यदि प्रेम-पूर्वक मुझे देता है, प्रेम के द्वारा लाया हुआ जो उपहार है, उसको मैं क्या करता हूँ? भगवान् ने यह नहीं कहा 'मैं ले लेता हूँ'; कहते हैं 'अश्नामि' मैं खा जाता हूँ। तुम किसी चीज को खाते हो तो वह तुमसे एक हो जाती है। संसार में सब कुछ परमेश्वर से एक तो है ही। किन्तु हम पदार्थों को अपना माने हुए हैं। जब प्रेम से अर्पण करते हैं तब वह माना हुआ अधिकार छोड़ते हैं, इतने से ही भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। जैसे बच्चे को हम सौ रुपये महीने-भर का जेब खर्च देते हैं। वह रुपया किसका है? हमारा है, हमीं ने दिया है उसको। परन्तु

उसने मान लिया 'यह मेरा है।' अब उसके गोलक से हम दस रुपये निकाल लें तो कहेगा 'हमारे दस रुपये क्यों लिये?' अरे, दिये हुये हमारे ही तो थे! लेकिन अब तो वह उन्हें अपना माने बैठा है। चाहे यह हमारे हैं, लेकिन उसने मान लिया कि यह 'मेरे हैं'। हमारा जन्मदिन आया। वह हमारे लिये दो चाकलेट ले आया, दस रुपये खर्च हुये। रुपये हमारे ही थे उसके तो नहीं थे, लेकिन उसने मान रखे थे, उसमें से उसने निकाल कर हमें दिये तो हमको बड़ी खुशी होती है। इसी प्रकार से हाथ परमात्मा का दिया हुआ है, इसके ऊपर उसी का अधिकार है। हमारा अधिकार कुछ नहीं, काम चलाने के लिये हमको दिया हुआ है। पर हमारा दृढ़ अभिमान क्या है? 'ये हाथ हमारे हो गये, यह पत्ता हमारा हो गया, ये फूल हमारे हो गये, यह पानी हमारा हो गया।' व्यापक होने से है तो परमेश्वर का, लेकिन कार्य करने के लिये हमें दिया तो हम उसको अपने अभिमान के कारण मानते हैं कि हमारा है। उसमें से हमने कुछ चीज़ें निकालकर भगवान् को भक्ति से दे दी तो भगवान् खुश हो जाते हैं।

भगवान् ने कहा है कि जो कोई भी भक्ति से मुझे कुछ देता है उसके दिये को मैं खा लेता हूँ। ऐसा नहीं कि किसी-किसी का दिया वे खाते हों वरन् सभी का भक्ति से दिया पत्रादि वे खाते हैं। हमें दीखता तो पदार्थ वैसा-का-वैसा है, खाया हुआ दीखता नहीं, लेकिन जब हम उस पर से स्वत्व हटा लेते हैं तब वे उसे स्वयं से एक कर लेते हैं। 'खा लिया' अर्थात् 'मुझसे एक हो गया।' पूजा के अंत में हम लोग प्रसाद सब शिवभक्तों को समर्पित करते हैं–

'बाणरावणचण्डीशनन्दिभृंगिरिट्यादयः ।
शंकरस्य प्रसादोयं सर्वे गृह्णन्तु शांभवाः ।।'

प्राचीन भक्तों से लेकर आज पर्यन्त भगवान् शंकर के बड़े-बड़े भक्त हुए हैं। बाणासुर, रावण, चण्डीश, नंदी, भृंगी, रिटि–ये सब

भगवान् शंकर के प्रिय भक्त हैं। भगवान् शंकर का प्रसाद सारे शंभुभक्तों की चीज़ हो गई, सब इसको ग्रहण करें। अतः पुराने लोगों को देखा होगा कि भगवान् को भोग लगाने के बाद जितने वहाँ लोग हों सबको थोड़ा-थोड़ा प्रसाद देते हुये जाते हैं। आधुनिक लोग एक डब्बा चढ़ायेंगे भगवान् को और चाहते हैं कि समूचा ही उन्हें पुजारी लौटा दे! यदि उसने कुछ लड्डू उसमें से रख लिये तो शिकायत भी करते हैं! उनसे आगे हैं स्वयं कहते हैं, 'पंडित जी, एक लड्डू रख लेना, बाकी हमको दे देना। तब फिर तुमने चढ़ाया क्या? अतः भगवान् को चढ़ाना मतलब उस पर से अपनी मिलकियत हटा लेना। अब वह सभी भक्तों का है।

परमेश्वर की जो अभ्यर्चा करते हैं, उसमें द्रव्य क्या है?— इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। बड़े हलके द्रव्य से भी उनकी अर्चना हो जाती है, पूजा हो जाती है। भगवान् शंकर को सबसे ज़्यादा प्रिय क्या है? तो **'जलधाराप्रियः शिवः'** जल की धारा उनको सबसे ज़्यादा प्रिय है! **'विष्णुरामरणप्रियः'** विष्णु को सबसे ज़्यादा पसंद है गहना। गहना चढ़ाओ तब वह खुश होते हैं। भगवान् सूर्य को सबसे ज़्यादा प्रिय है नमस्कार। **'नमस्कारप्रियो भानुः'** तो अलग-अलग को अलग-अलग प्रिय है। सर्वत्र सुलभ पानी उनकी सबसे प्रिय चीज़ है। अतः कोई बहुत बड़ी चीज़ अभ्यर्चना के लिये आवश्यक होवे ऐसा नहीं है। इतना ही नहीं, जिन फूलों को प्रायः कोई बहुत पसंद नहीं करता जैसे आकड़े का पुष्प है, द्रोण पुष्प है ऐसे फूल शंकर जी को प्रिय हैं। आचार्य अप्पय दीक्षित लिखते हैं—

> **'अर्कद्रोणप्रभृतिकुसुमैरर्चनं ते विधेयं**
> **प्राप्यं तेन स्मरहरफलं मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः ।**
> **एतज्जानन्नपि शिव शिव व्यर्थयन् कालमात्म-**
> **न्नात्मद्रोही करणविवशो भूयसाऽधः पतामि ।।'**

आपकी पूजा आकड़े के फूल, द्रोणपुष्प, ऐसे छोटे-छोटे फूल जिनको कोई खास पसन्द नहीं करता, उनसे ही हो जाती है। ऐसी हल्की चीज़ों से पूजा करते हो तब क्या फल भी हल्का ही मिलता है? नहीं। ऐसी हल्की चीज़ों से पूजा करके जो मोक्ष चाहता है उसको भगवान् मोक्ष दे देते हैं। साम्राज्य चाहता है तो वह दे देते हैं, लक्ष्मी, धन को चाहता है उसको लक्ष्मी दे देते हैं। ऐसा आप क्यों कर पाते हैं? क्योंकि 'स्मरहर' हैं, आपको स्वयं किसी चीज़ की इच्छा है नहीं। इच्छा वाला तो तोलता है कि किसने क्या दिया, क्या नहीं दिया। परन्तु इच्छा-रहित व्यक्ति को यह तोलने की ज़रूरत नहीं पड़ती क्योंकि उसको वह सब चीज़ें एक जैसी मूल्यहीन लगती हैं। देने का प्रेरक जो भाव है, उसी की स्मरहर को कीमत दीखती है, वस्तु की नहीं। करोड़पति को कोई भेंट में पाँच रूपये दे या पचास रूपये दे, रूपयों की दृष्टि से उसे कुछ अंतर नहीं पड़ सकता, केवल देने वाले के भाव को वह आदर दे सकता है। इसी प्रकार इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के नायक को तुमने चाहे नौलक्खा हार दिया और चाहे तुमने दुअन्नी की माला पहनाई, कोई फ़र्क उसको लगेगा? वह तो खाली यह देखता है कि यह बुढ़िया लाठी टेकते हुये, मेरे लिये लाई है। क्या लाई है—इसकी तरफ दृष्टि जाती ही नहीं। अप्पय दीक्षित कहते हैं, मैं अपना हाल क्या बतलाऊँ! यह मैं जानता हूँ कि आपकी अर्चना अनंत फल देती है फिर भी इन्द्रियाँ इतनी सरल चीज़ों से भी मुझे आपकी पूजा नहीं करने देतीं! इन्द्रियों की अधीनता ऐसी है, बाकी सब काम करने के लिये फुर्सत मिल जाती है, सुविधा हो जाती है, शिवलिंग के ऊपर एक लोटा पानी चढ़ाने के लिये कठिनाई महसूस होती है। घर में चार मोटर हैं, स्कूल जाने वाले के लिये मोटर है, ऑफिस जाने के लिये मोटर है, बाजार से सौदा लाने के लिये मोटर है, स्टेशन किसी

को लेने जाने के लिये मोटर है, मोटर की कमी केवल कब आती है? सत्संग में जाने के लिये। उसके लिये मोटर नहीं है। गलती किसी की नहीं है, इन्द्रियों की अधीनता ही यह सब करा लेती है। परन्तु अपने हाथों से उनकी अभ्यर्चना करो तो शास्त्रों के अन्दर उसका बड़ा फल बतलाया हैं।

कुछ लोग कह देते हैं कि बाह्यार्चन की क्या आवश्यकता है, मन से ही पूजा कर लो? कुछ लोग ऐसा मान भी लेते हैं। परन्तु आचार्य शंकर केवल यहीं नहीं, अनेक जगहों पर कहते हैं कि यदि अपने हाथों को तुम पूजा में नहीं लगाते, तो यह इस बात को बतलाता है कि वस्तुतः तुम्हारे अन्दर भाव की पूर्णता है नहीं। जैसे कोई औरत कहे अपने पति से 'मुझे आपसे बड़ा प्रेम है, रात-दिन आपको ही सोचती हूँ' पति कहे 'ज़रा एक गिलास पानी तो पिला देना।' पत्नी बोले 'यह सब हमसे नहीं होता। पतिदेव! बस आपका चिन्तन करती हूँ। मन से आपसे बड़ा प्रेम है।' तब क्या जँच जायेगा पति को कि इसको बड़ा प्रेम है? तुम्हारे हाथ उसकी सेवा में नहीं लग पा रहे हैं तो फिर तुम्हारा प्रेम कैसे समझा जाये? इसीलिये परमेश्वर की पूजा हाथों से करना। वाणी और हाथ ये दो कह दिये, उपलक्षणा से सभी कर्मेन्द्रियों को ले लेना। पैरों से प्रदक्षिणा करनी है भगवान् की। वाणी और कर–ये हो गईं कर्मेन्द्रियाँ; श्रुति और नयन–ये दोनों हो गईं ज्ञानेन्द्रियाँ; मन और बुद्धि; इतनी चीज़ों को यहाँ गिना है। जो नहीं कही हैं उन्हें भी यहाँ उपलक्षणा से समझ लेना चाहिये।

जीव की तीन शक्तियाँ हैं–ज्ञान, इच्छा और क्रिया की। इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति मन में होती है। मन निरन्तर शिवचरणों में निवास करे अर्थात् इच्छा वहाँ केन्द्रित हो। इच्छानुरूप क्रिया होती है, वेद ने कहा है कि जैसा क्रतु करते हैं वैसा कर्म करते

हैं। अतः इच्छा के, मन के बाद वाणी और पाणि का भगवत्सेवा में विनियोग बताया। दो से उपलक्षित सभी क्रियाशक्ति समझ लेनी चाहिये। इसके अनंतर आचार्य ज्ञानशक्ति को शिवार्पित करना बताने के लिये कहते हैं '**श्रुतिरपि कथाकर्णनविधौ**' श्रुति, कान भी परमेश्वर की कथा को सुनने में लगें। कर्मेन्द्रियों में भी पहले वाणी को लिया था जो शब्द-सम्बन्धी है और ज्ञान में भी पहले श्रोत्र को लिया वह भी शब्द-सम्बन्धी है। इस प्रकार से ज्ञान और कर्म दोनों में ही शब्द की प्रधानता को प्रकट किया क्योंकि परमात्मा के विषय में मुख्य प्रमाण शब्द ही है। प्रत्यक्ष और अनुमान की वहाँ गति है, नहीं। शब्द की प्रधानता बतलाने के लिये कर्मेन्द्रियों में वाक् को लिया, ज्ञानेन्द्रियों में कान को लिया। वाणी के द्वारा उनकी स्तुति करें और कान के द्वारा उनकी कथा को सुनें। केवल 'कथा' नहीं कहकर '**कथाकर्णनविधौ**' कहा। जैसे कहा था 'स्तोत्रफणितौ'; केवल स्तोत्र इतना मात्र नहीं कहा कि वाणी स्तोत्र में लगे, 'फणिति' अलग से कही अर्थात् वाणी स्तोत्रों का उच्चारण करने में लगे। इसी प्रकार यहाँ केवल यह नहीं कहा कि श्रुति कथा में लगे वरन् '**कथाकर्णनविधौ**'। प्रयत्न करके उस कथा को सुनना है। लोक में भी कहते हैं कि एक कान में डाल कर दूसरे कान से निकाल नहीं देना, अर्थात् कान से जो बात सुनो उसको अपने अन्दर बैठाना। अन्यथा सुनते हैं, परन्तु सुने हुए को अपने हृदय में उतारते नहीं हैं। अतः प्रयत्नपूर्वक कथा को सुनना है अर्थात् कथा के तात्पर्य को हृदय में उतारना है। यदि तात्पर्य हृदय में उतारना हो, जीवन से कथा का कोई सम्बन्ध न हो तो प्रश्न उठता है, रामायण सुनने से क्या फ़ायदा? शास्त्रकार कहते हैं '**रामवद् आचरितव्यं न तु रावणवत्**' रामायण पढ़ने का मतलब है राम की तरह आचरण करो, रावण की तरह नहीं करो। तब तो कथाकर्णन हुआ, अन्यथा कथा कई बार भयंकर काम कर देती है।

एक पंडितजी ने कहीं महाभारत की कथा की। लम्बा ग्रंथ है, एक लाख श्लोक हैं, छह महीने लगे। कथा समाप्ति में उन्होंने सेठजी से पूछा कि 'आपने महाभारत में क्या सुना, बताओ?' सेठजी ने कहा 'बड़ा अच्छा हुआ हमने महाभारत सुन ली। पहले कोई गरीब आदमी आता था, उसको ज़्यादा तकलीफ में देखते थे तो पाँच रूपये का सौदा उसको साढ़े तीन में दे देते थे कि फायदा नहीं हुआ चलो कोई बात नहीं; अब महाभारत सुनकर जो दुर्योधन ने कहा कि 'सुई की नोक जितनी भी मैं अपनी ज़मीन दूसरे को नहीं दूँगा।' वह शिक्षा अपने हृदय में उतार ली। चाहे कोई सर्दी से मर जाये, मैं अपने कम्बल का दाम पाँच से साढ़ेतीन रूपया करने वाला नहीं हूँ, मैं पक्का हो गया।' पंडित जी ने सोचा 'अरे! ये आदमी लोग तो ज़रा कम श्रद्धालु होते हैं। शायद सेठानी ने कुछ समझा हो।' सेठानी से पूछा 'सेठानी जी, आपने क्या सुना?' उन्होंने कहा 'महाभारत ज़रा पहले सुन लेती तो अच्छा था! द्रौपदी ने पाँच पति किये थे, मैं एक में ही अटकी रह गई। अब ज़रा उम्र तो ज़्यादा हो गई है, फिर भी प्रयत्न कर लूँगी।' अब बेचारे पंडित जी घबराये, उन्होंने लड़की से पूछा 'तुमने क्या समझा?' बोली 'जी, वह पड़ौसी के लड़के के साथ काफी दिनों से मेरा किस्सा चल रहा था, लेकिन मैं मन मारकर बैठी रहती थी कि ग़लत काम है, माता-पिता को दुःख होगा, चारों तरफ बदनामी होगी लेकिन जब मैंने महाभारत में सुना कि रुक्मणी कृष्ण के साथ भाग गई थी तब मेरी सारी उधेड़-बुन ख़त्म हो गयी। बड़ा अच्छा हुआ, महाभारत सुन लिया। मैंने भी उससे कह दिया है कि यहाँ से भागने का इंतजाम कर लो।' बेचारे पंडित जी बड़े उदास हो गये, सोचा, इनके घर का लड़का है शायद यही कुछ समझा हो। लड़के को कहा 'अच्छा भाई, तूने भी कुछ समझा हो तो बता दे। वह बोला 'पिताजी हमेशा

कहते थे 'पुत्र को हमेशा आज्ञा में रहना चाहिये।' महाभारत सुन कर मुझे पता लगा कि दुर्योधन की तरह पिता को ठीक करके रखना चाहिये। अब मैं दुक़ान में इनकी चलने नहीं देने वाला हूँ। बड़ा अच्छा हुआ, आपने बहुत बढ़िया कथा की।' अब बिचारे पंडित जी बिलकुल ठंडे पड़ गये। किताब को कपड़े में बाँधते हुये कहा 'मैंने भी महाभारत से यह सीख लिया की भविष्य में कभी कहीं कथा नहीं करनी है!' ऐसे कथा न सुनने लगें इसलिये कहा **'कथाकर्णनविधौ'**।

यह मत समझना कि वह सेठजी ही एक हुये थे। वर्तमान काल में अधिकतर लोग कथा सुनते हैं, 'कथाकर्णन' नहीं करते। अतः प्रश्न होते हैं, 'रामचन्द्रजी ने सीता जी को क्यों भेज दिया जंगल में? भीष्म पितामह बैठे रहे, उन्होंने क्यों दुःशासन को चीर-हरण करने के लिये छोड़ दिया? द्रोणाचार्य ने एकलव्य का अंगूठा क्यों कटवा दिया?' बस ये ही सारे प्रश्न लोग पूछते हैं। एकलव्य कितना गुरुभक्त था—इसकी बात कभी नहीं करेंगे। भीष्म पितामह माता-पिता के कैसे भक्त थे—यह बात कभी नहीं करेंगे। सीताजी को भेजने के बाद जीवनभर रामजी के मुख पर कभी मुस्कराहट नहीं देखी गई। पिता के द्वारा जंगल में भेजे जाने के समय में भी जिस राम के होठों की मुस्कराहट गयी नहीं, वनवास के दुःख से कोई मलिनता नहीं आई उनके मुख पर, वैसा ही हँसता चेहरा रहा; वे राम सीता को भेजने के बाद जन्मभर कभी मुस्कराये भी क्यों नहीं—यह कोई नहीं पूछता है। क्योंकि वे कथा सुनते है; कथाकर्णन नहीं करते। कहने वाले का उद्देश्य क्या है इसको समझने का प्रयत्न नहीं करते हैं। ऐसी गलती न कर लें, इसीलिये आचार्य ने कहा **'श्रुतिरपी कथाकर्णनविधौ'** किसी भी कथा को सुनो तो यह समझने का प्रयत्न करो कि उस कथा के द्वारा क्या कहा जा रहा है? कहने वाला किसलिये अर्थवाद कर रहा

है? उस कथा को क्यों सुना रहा है? यह परमात्मा की कथा के विषय में और भी ज़रूरी है, सभी के लिये ज़रूरी है। परमात्मा की कथा हमेशा कहाँ से शुरू होती है? **'सदेव सौम्येदमग्र आसीद्, ब्रह्मैवेदमग्र आसीद् आत्मैवेदम् अग्र आसीद्'** सर्वत्र कथा का प्रारम्भ होता है कि परमेश्वर ने सृष्टि की। शुरू कथा यहाँ से होती है। सृष्टि बताने का प्रयोजन क्या? यह कह सकते हो कि 'परमेश्वर के अलावा और लोग भी सृष्टि कर सकते हैं, इसीलिये उनको बताया गया कि सृष्टि करो तो ऐसे करना।' पर ईश्वर एक है। अतः कोई और सृष्टि-कर्त्ता तो बनेगा नहीं। अतः सृष्टि के बताने का यह प्रयोजन हो नहीं सकता कि तुम सृष्टि ऐसे बनाओ। सृष्टि के क्रम को जानने से तुमको स्वर्ग या मोक्ष मिलता हो, यह भी कहीं नहीं कहा है। 'सृष्टिक्रम जानने वाला मुक्त हो जाता है या स्वर्ग चला जाता है'—यह भी कहीं बतलाया नहीं गया है। सृष्टिक्रम जानने की भी कोई विधि नहीं है। इस प्रकार के निष्फल वाक्य को दोनों ही, पूर्व-मीमांसक और उत्तर-मीमांसक अप्रमाण मानते हैं। या जो ज्ञान तुमको दिया जा रहा है उसके अनुसार तुमको कुछ करना है तब तो वह उपदेश सार्थक हुआ, अथवा यदि उसको जानने मात्र से तुमको कोई फल मिलता है तब भी सार्थक हुआ। जब ये दोनों ही बातें सृष्टि वाक्य के लिये नहीं बनती हैं तब ये सारे वाक्य निष्फल होने से प्रमाण ही नहीं हैं। किन्तु एक जगह ही सृष्टि आदि को नहीं कहा है, कई जगह कहा है। इसीलिये उस उपदेश का कोई विशेष उद्देश्य होना संगत है।

आचार्य गौडपाद ने स्पष्ट किया है कि यह जो सृष्टि बताई है, इसका प्रयोजन न तुमको स्रष्टा बनाने में है, न सृष्टि जानने मात्र का कोई फल है वरन् सृष्टि का प्रयोजन यह समझने में है कि सिवाय ब्रह्म के और कहीं कुछ है नहीं। बिना किसी

साधन के, बिना किसी अन्य उपादान के परमेश्वर ने सृष्टि की है इसीलिये सारी सृष्टि परमेश्वर का ही रूप है। सब कुछ परमात्मरूप है—यह बतलाना सृष्टि वाक्यों का उद्देश्य है। सब कुछ परमात्मरूप तभी हो सकता है जब परमात्मा ने बिना किसी सहायता के खुद अपने को ही संसाररूप में बनाया हो, इस बात को तुम्हारे में अवतरित करने के लिये, उतारने के लिये यह प्रसंग है कि कण-कण और क्षण-क्षण सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है और यह ज्ञान मोक्ष देने वाला है, अतः सृष्टि-वाक्य प्रमाण है। यदि कथाकर्णन करोगे तब तो यह समझोगे, अन्यथा सृष्ट तत्त्वों के बारे में ही ऊहापोह करते रह जाओगे, उन्हीं में जो युक्ति आदि के विरोध प्रतीत होंगे उनसे शास्त्र पर अश्रद्धा तक कर बैठोगे। ऐसा नहीं समझना कि आज ही सृष्टिप्रक्रियादि के बारे में प्रश्न उठते हों, आचार्य शंकर अपने भाष्य में अनेक विरोधी चीज़ों को दिखलाकर कहते हैं **'अत्यल्पमिदम् उच्यते'** तुम जो शंका कर रहे हो यह तो अति अल्प शंका है। शंका तो शुरू से आखिर तक है! तब जवाब देते हैं कि सृष्टिक्रम लय-चिन्तन के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के उपाय रूप में बताया जा रहा है। वेद का तात्पर्य 'सृष्टि कैसे हुई'—यह बतलाने में नहीं है। सृष्टि की प्रक्रिया को समझकर सारे जगत् को ब्रह्मरूप समझकर तुम मुक्त हो जाओ : यह बताना सृष्टि का तात्पर्य है। श्रुति यह भी कहती है **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** इस सृष्टि को बनाया, फिर इसमें प्रवेश किया। **'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशत् जीवरूपतः'** स्मृति कहती है कि खुद ही जगत्-रूप में बना और फिर जीवरूप से इसमें प्रवेश किया। है यह बड़ी ऊटपटांग बात! कोई कहे कि रूई से कपड़ा बनाया और फिर उसमें रूई ने प्रवेश किया तो कहोगे कि रूई से बनाया तो रूई उसमें पहले से ही है, प्रवेश कहाँ से करेगी? प्रवेश तो वहीं हुआ करता है, जहाँ पहले से चीज़ न हो। तुम कमरे में बैठे हुए हो और कोई

आकर तुमसे कहे 'जी, कमरे में चलिये', तो कहोगे 'कमरे में ही तो बैठा हुआ हूँ, 'कमरे में चलिये' का मतलब क्या? कमरे के बाहर होऊँ तब कहो 'कमरे में चलिये, कमरे में प्रवेश करिये'; मैं तो पहले ही कमरे में बैठा हुआ हूँ।' तो जब सारे जगत् के रूप में वही बना है तो वह प्रवेश कैसे करे? प्रवेश प्रतिबिम्बरूप से बतलाकर यह समझाना है कि जीव अपने बिम्बरूप परमात्मा से एक है। 'प्रवेश हुआ'—यह बताना तात्पर्य नहीं है। प्रवेश उसका हो ही नहीं सकता है। तात्पर्य तो यह बताना है कि जैसे प्रतिबिम्ब का प्रवेश वास्तविक नहीं होता ऐसे आत्मा संसार में वस्तुतः घुसा नहीं है। प्रतिबिम्ब से तुमको बिम्ब-ज्ञान होता है। काँच में मुँह देखकर तुमको पता लगता है कि मुँह का शृंगार ठीक हो गया कि नहीं। इसी प्रकार जीवरूप को देखकर के परमेश्वर का पता लगता है, यह प्रयोजन है प्रवेशवाक्यों का। अतः प्रवेश कैसे हुआ, क्यों हुआ, नहीं हो सकता है इन सब प्रश्नों में फँसे रहना व्यर्थ है। जैसे लीलाचरितों को सुनना उनसे कुछ सीखने के लिये या चिंतन के लिये, ऐसे उपनिषदों का श्रवण भी मोक्ष के लिये करना है। यह उद्देश्य याद न रहने पर मनुष्य ग़लत समझेगा।

'तव ध्याने बुद्धिः' अब चूँकि मन को, इच्छा-शक्ति को पहले कह दिया गया है अतः यहाँ बुद्धि का मतलब है ज्ञानशक्ति। मन के लिये अपर ब्रह्म प्रधान था, यहाँ परब्रह्मस्वरूप प्रधान है। परमात्मा निर्गुण, निर्विकार, निष्क्रिय है इस बात का निश्चय करने के लिये तुम अपनी बुद्धि को एकाग्र करो। **'ध्यै चिन्तायाम्'** धातु से ध्यान शब्द बनता है, अतः ध्यान का मतलब होता है एकाग्र हो कर किसी चीज़ का चिन्तन करना। जो चीज़ जितनी सूक्ष्म होती है, उसको समझने के लिये चित्त उतना ही एकाग्र करना पड़ता है। बाजार में बैंगन खरीदने जाते हो तो एक-एक बैंगन को दस-दस मिनट नहीं देखना पड़ता है! बैंगन उठाया, ठीक है, तो रखते चले गये। पर हीरा या पन्ना खरीदने जाओगे

तो एक-एक नगीने को तुम आधे-आधे घण्टे तक देखोगे ध्यान से। स्वल्प गुण-दोष के कारण नगीनों के भावों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क हो जाता है। अगर तुम सावधान नहीं हो तो बड़ा नुकसान उठाना पड़ सकता है। हीरे पन्ने को खरीदने के लिये तुमको बड़े ध्यान से देखना पड़ेगा क्योंकि सूक्ष्म हैं। वह जो निगुर्ण निर्विकार तत्त्व है, वह तो सूक्ष्मतम है, उससे आगे और कुछ सूक्ष्म है नहीं, इसलिये उसके लिये तो चित्त को अत्यन्त एकाग्र करना पड़ेगा। चित्त अनेकाग्र किससे होता है? पन्ने को देखते हुये किसी दूसरी चीज़ को देखने लगो तो वह पन्ना तुम्हारी ठीक-ठीक पहचान में नहीं आयेगा। पन्ना तो कोई-कोई कभी-कभी खरीदते हैं। औरतें साड़ियाँ खरीदने जाती हैं। जो चतुर दुकानदार होता है वह ग्राहक का मन भटकाने में सक्षम होता है। गर्मी का मौसम है, दुकान में बढ़िया एअर कण्डीशनर लगा हुआ है, तरह-तरह की रंगीन रोशनियाँ चारों तरफ लगी हुई हैं। पहुँचते ही बड़े प्रेम से आकर तुमको कोकाकोला देता है, कोकाकोला पीते हुए, ठण्डक में बैठे हुये, इन रोशनियों के कारण 'साड़ी जैसी दीख रही है वैसी है या नहीं' इस संदेह को हटाने के लिये बाहर धूप में नहीं जाते। अतः सौ रूपये की साड़ी दो सौ रूपये में बिक जाती है। दस रूपये का कोकाकोला पिला दिया, दस रूपये का एअर कण्डीशनर खर्च हो गया, दस रूपये की रोशनी खर्च हो गई, सत्तर रुपये बच गये।

स्वल्प सुखों के लोभ में ही हम महान् अनर्थ में फँसे रह जाते हैं। एक सीधे-सादे पंडितजी थे। उन्होंने किसी सेठ को, दस हजार रूपये दे दिये थे कि, ब्याज देते रहना। सेठजी ब्याज देते रहते थे। किसी ने पंडितजी से जाकर कहा 'अरे! उस सेठ की तो आजकल हालत बड़ी खराब है। लगता है, दिवाला निकाल देगा।' अब पंडितजी ने सोचा, 'अरे, उसका दिवाला निकलने वाला

है तो दस हजार रूपये अपने हैं, ले आने चाहिये, नहीं तो डूब जायेंगे।' बिना बुलावे के पंडितजी वहाँ पहुँचे, सेठजी तो सेठजी होते हैं, उड़ती चिड़िया पहचानते हैं! सेठजी ने सोचा कि 'न मेरे यहाँ कोई श्राद्ध, न मैंने इनको बुलाया, पंडितजी आ गये; लगता है कुछ-न-कुछ इन्होंने बात सुन ली है।' तो घर के अंदर जाकर घरवाली से कहा 'अरे, झट बढ़िया बादाम का हलवा और पूड़ी निकाल।' कहने लगी, 'आप तो रोज़ कहते हैं कि 'आजकल खर्चा कुछ कम कर, फुलका भी एक ही तरफ चुपड़, दोनों तरफ नहीं चुपड़, फिर बादाम का हलवा और पूड़ी किसके लिये?' सेठ ने कहा 'अरे चुप, पंडितजी आ रहे हैं। पंडितजी के लिये। मैं जैसा कह रहा हूँ वैसा चुप-चाप कर।' सेठानी ने सोचा, 'चलो इसी बहाने घर वालों को भी सीरा मिल जायेगा, अन्यथा आजकल सेठजी खर्च बचाने पर ही ज़ोर देते हैं!'

पण्डित जी आये तो सेठ ने उत्साह से स्वागत किया। प्रेम से भोजन कराया। यों तो आठ आने दक्षिणा देता था, उस दिन पाँच रुपये दक्षिणा दी! पंडित जी ने सोचा कि ऐसा खा-खिला रहा है, इतनी दक्षिणा दे रहा है तो इसकी आर्थिक स्थिति ठीक ही होगी, अफवाह झूठी ही होगी। सेठ ने मुश्किल से दस रुपये खर्च कर दस हजार बचा लिये। उस दिन पंडित ने माँग लिये होते तो सेठ को मुसीबत आ जाती। उसने बुद्धिमानी की, रूपये कैसे बचाने हैं—इसी पर एकाग्र रहा। पंडित क्यों चला आया इत्यादि चित्त को विक्षिप्त नहीं होने दिया वरन् विचारपूर्वक उसके आने का प्रयोजन समझा और उपाय से काम निकाल लिया। सूक्ष्म वस्तु समझ ही तब आती है जब अन्यत्र से ध्यान हटकर उसी पर केन्द्रित रहे। सच्चिदानन्द परमात्मा को समझ पाने के लिये अनात्म पदार्थों से चित्त हटाना पड़ेगा ही। अतः बुद्धि को केवल परमेश्वर पर एकाग्र करना अनिवार्य साधन कहा। बुद्धि अर्थात् निश्चय, साधक अनात्म वस्तुओं के बारे में निश्चय बनाने के प्रयास छोड़े, यथाव्यवहार उनका प्रयोग कर ले, निश्चय परमेश्वर के ही बारे में करे यह ज़रूरी है। मन तो अपर ब्रह्म में भी लग जायेगा लेकिन बुद्धि परब्रह्म पर ही टिकेगी।

'नयनयुगलं मूर्तिविभवे'—दोनों आँखें आपके मूर्तिविभव में लगें। दोनों हाथों का उल्लेख किया था, दोनों आँखों का कथन कर रहे हैं, 'श्रुतिः'—कानके स्थल में ऐसा नहीं किया। हर-एक आँख अलग देखती हैं, दोनों आँखें मिलकर कुछ और देखती हैं। ऐसे कानों में नहीं होता कि एक-एक कान से अलग-अलग शब्द सुनें। शब्द एक ही सुनाई देता है। नटराज, दक्षिणामूर्ति आदि अनेक मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं और चींटी से हाथी तक सब ही उसी की मूर्ति हैं। इसलिये भगवान् ने अपनी विभूतियाँ अनन्त बतायी हैं। सर्वत्र विशेषता भगवान् का ही अंश है। बुद्धि, ऐश्वर्य, धन, बल आदि जहाँ भी दीखें, हैं भगवान् के। चींटी की अचिन्त्य सामर्थ्य है, कहाँ चीनी पड़ी है उसे तुरंत पता लग जाता है और वह उसे ले भी जाती है! उसमें यह विशेषता है भगवान् की ही उसमें उपस्थिति। एक नयन से मूर्ति देखो, दूसरी से जिस परमात्मा का वहाँ वैभव है उसे देखो।

यों जब साधना चलती हो तब **'परग्रन्थानतः परं कैर्जाने!'** और ग्रंथों को किस साधन से जानूँ? शास्त्र पर श्रद्धा तो है पर साधन न होने से उनके अनुसन्धान में संलग्न नहीं हो सकता। किं च वृथा कण्ठक्षोभ में रुचि भी नहीं है, यह कह ही चुके हैं। समग्र इंद्रियों से, मन से और बुद्धि से परमेश्वर का भजन करना है।।७।।

(८)

जिसका भजन करते हैं उसका ठीक ज्ञान ज़रूरी है। माता-पिता की तरह परमात्मा प्रत्यक्ष तो है नहीं कि भजन करते हुए पता चले कि ठीक हो रहा है या नहीं। वे तो भजन करने के बाद प्रत्यक्ष होंगे। यदि उनका स्वरूप ही नहीं समझा तो सेवा कर ही नहीं पायेंगे। प्रायः हम परमात्मस्वरूप का निश्चय करते नहीं और उनके बारे में भ्रम रहते भजन के स्वरूप में भ्रम होना स्वाभाविक है। इसी जानकारी के लिये कहते हैं–

यथा बुद्धिः शुक्तौ रजतमिति काचाश्मनि मणिः,
जले पैष्टे क्षीरं भवति मृगतृष्णासु सलिलम् ।
तथा देव भ्रान्त्या भजति भवदन्यं जडजनो,
महादेवेशं त्वां मनसि च न मत्वा पशुपते ।।८।।

सीप में चाँदी, काँच में मणि, सचूर्ण जल में दूध, मृगतृष्णा में पानी–इन भ्रमों की तरह भ्रम से अज्ञ व्यक्ति आपसे अन्यों का भजन करता रहता है, मन में स्थित आप महादेव को न पहचानने से ऐसा होता है।

तेज़ प्रकाश में दूर से सीप चाँदी दीखती है, सीप में चाँदी का भ्रम हो जाता है। ऐसे ही कहीं फल दिखाई दे जाये तो हमें भ्रम हो जाता है कि जिससे फल मिला, यह ही परमात्मा है। इसी से भूत-प्रेत-यक्ष-राक्षसों का पूजन चलता रहता है। जैसे दीखी चमक, समझा कि चाँदी है, वैसे दीखा कि फल मिला और समझते हैं कि भूतादि ही परमेश्वर है। सर्वत्र फलप्रद एक परमेश्वर ही है यह गीता, ब्रह्मसूत्रादि में स्पष्ट है। कब्र पूजी और फल मिला–इसको ना नहीं कर रहे लेकिन वहाँ फल देने वाला

परमेश्वर है, कब्र या भूत नहीं। यह समझने वाला परमेश्वर का ही भजन करेगा, अन्यथा कब्र या भूत को पूजता रहेगा। यक्ष-राक्षसों की पूजा भी प्रचलित ही है। यक्षराज कुबेर हैं; आज भी धनाढ्यों की आराधना दीख रही है। राक्षस अतिबली होते हैं, अत्याचारी होते हैं; ऐसे ही बड़े राष्ट्र सैन्यसम्पन्न होने पर अत्याचारी होते हुए भी अन्यों द्वारा पूजित होने लगते हैं। कारण यह कि उनके आदर-सत्कार से लगता है कि उनसे फल लाभ होता है। जबकि असल में फलदाता परमेश्वर है।

दूसरा दृष्टान्त दिया **'काचाश्मनि मणिः'**। यह भी भ्रम में दृष्टान्त है। काँच के टुकड़े में हीरे का भ्रम हो जाता है। आजकल 'अमेरिकन हीरा' को देखकर यह हीरा है ऐसा भ्रम स्पष्ट है। कहीं-कहीं यह भ्रम कुछ फलप्रद भी हो जाता है। कल्पना करो–किसी आले में हीरा रखा है, वहीं एक दिया जल रहा है और आले के बाहर एक चमकीला पत्थर रखा है जो दिये की रोशनी से जगमगाता रहा है। तुमने दूर से उस चमकते पत्थर को हीरा समझा। भ्रम हुआ। पर जब वहाँ पहुँचोगे तो पास पड़ा हीरा मिल भी जायेगा! गये भ्रम से थे फिर भी जो समझकर गये थे वह मिल गया। जिसे समझा था वह तो हीरा नहीं निकला लेकिन हीरा मिल गया। शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों में ऐसे को 'संवादी भ्रम' कहते हैं। जहाँ यों सफलता न हो उसे 'विसंवादी भ्रम' कहते हैं। इसी प्रकार यक्ष आदि की उपासना से फल तो मिलेगा लेकिन परमेश्वर नहीं मिलेगा। जबकि विष्णु शिवादि उपाधियों वाले की उपासना करते हैं तो फल मिलने के साथ-साथ परमेश्वर भी मिल जाता है। परमेश्वर तो **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथारसं नित्यमगंधवच्च यत्'** इत्यादि श्रुति के अनुसार सब विशेषों से रहित है अथ च सभी विशेषों वाला प्रतीत होता है।

यह ठीक है कि जब हम विष्णु की उपासना करते हैं, रुद्र की उपासना करते हैं, इन्द्र की उपासना करते हैं, वरुण की उपासना करते हैं तो इनमें भी फल देने वाला परमेश्वर ही है। फ़र्क केवल है कि जब हम इनकी उपासना करते हैं, इनके पास जाते हैं, तो वहाँ परमेश्वर सात्त्विक उपाधि से विद्यमान होने से हमें परमेश्वर भी मिल जाता है। जब तक हम उपासना कर रहे हैं तब तक उसको एक देवता ही समझते हैं लेकिन प्राप्ति दशा में वहाँ स्थित परमेश्वर भी मिल जाता है। कई बार लोग कहते हैं 'महाराज! क्या कब्र में भगवान् नहीं है?' भगवान् सर्वव्यापक है। कौन कहता है कि कब्र में नहीं है! उसकी आराधना से भी वही फल देने वाला है। फिर क्यों कहते हैं कि उसकी उपासना मत करो? इसलिये कि उसकी उपासना से फल मिलेगा, परन्तु वहाँ सत्त्वगुण उपाधि नहीं होने से परमेश्वर नहीं मिलेगा। अतः यदि तुम परमेश्वर की प्राप्ति चाहते हो तो जो शास्त्र के अन्दर सत्त्वगुणी उपाधियाँ बतलाई हैं उनकी उपासना करो, तब परमात्मा मिलेगा। जाओगे तुम देवता ही समझकर, क्योंकि अभी तुम परमेश्वर को समझ नहीं रहे हो, परन्तु जाने पर वहाँ वे मिल जायेंगे। इसीलिये काचाश्म में मणि-भ्रान्ति का दृष्टांत ऐसे भ्रम का लिया जहाँ जाने से सच्ची मणि मिल जाती है।

ऐसे समझ लो : एक जगह काँच की अल्मारी के अंदर बंद किया हुआ रसगुल्ला है और दूसरी जगह मिट्टी की हण्डी में बंद किया हुआ रसगुल्ला है। जैसे मिट्टी की हण्डी है वैसे ही मिट्टी का बना हुआ काँच है, दोनों में रसगुल्ला भी एक जैसा है। परन्तु काँच की अलमारी में रखा हुआ रसगुल्ला तुमको दीख जाता है, तुमको रसगुल्ले का ज्ञान हो जाता है। खा नहीं सकते हो, काँच की अल्मारी में बंद है, परन्तु रसगुल्ले को जान जाते हो। मिट्टी की हंडी में बंद किया हुआ जो रसगुल्ला है, खा तो

उसको भी नहीं सकते, परन्तु देख भी नहीं सकते, उसका ज्ञान भी नहीं होता है। इसी प्रकार से सत्त्वगुण की उपाधि में फल देने वाला जो रूप है, जब तुम उसके पास जाते हो तो वहाँ तुमको परमेश्वर दीख जाता है। *प्राप्ति* हो जाती है—ऐसा नहीं कह रहे हैं; प्राप्ति के लिये तो फिर और साधना करनी पड़ेगी। परन्तु पता लग जायेगा कि फल देने वाला परमेश्वर कैसा है। अब आगे तुम उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर सकते हो। परन्तु मिट्टी की हण्डी में अर्थात् राजस-तामस उपाधियों में तो तुमको पता ही नहीं लगेगा। जब तक हम देवता भाव से उपासना करते हैं तब तक वे सारे देव भाव की प्राप्ति करा सकते हैं; हम सत्त्व-गुणी हो जायेंगे, रजोगुणी आदि भाव को प्राप्त कर लेंगे। धन, ऐश्वर्य आदि पा लेंगे, बुद्धि शुद्ध नहीं होगी। अतः भगवान् ने कहा कि सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण वालों को छोड़कर जब तीनों गुणों से रहित मुझ परमेश्वर का तुम यजन करोगे, तब मेरी प्राप्ति करोगे। अन्य उपाधियों में 'ये ही फलद हैं' ऐसा भ्रम कायम रहता है जबकि सात्त्विक उपाधियों की उपासना से फल मिलने के साथ ही यह भी पता लग जाता है कि वास्तविक फलदाता परमेश्वर है और तब उस परमेश्वर की प्राप्ति के लिये हम तीनों गुणों के विकारों को छोड़कर शुद्ध को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिये ब्रह्मसूत्रों में नियम किया **'ब्रह्मदृष्टिः उत्कर्षात्'**। भगवान् वेदव्यास ब्रह्मसूत्र में कहते हैं कि जो उपाधि है वह उपाधि निकृष्ट है उस निकृष्ट उपाधि में उत्कृष्ट की भावना करनी चाहिये। लोक में समझ लो : मोटर लेकर जा रहे हो, लाल बत्ती आ गई, ध्यान दिया नहीं, तुम्हारी गाड़ी आगे बढ़ गई, पुलिस ने बजायी सीटी और रोक ली तुम्हारी गाड़ी, नम्बर लेने लगा चालान देने के लिये। तुम उससे कहते हो 'अरे दरोगा साहब! मुझे छोड़ दो, माफ कर दो जो भी हुआ।' वह तुम्हें छोड़ देता है। साथ

में बैठा व्यक्ति कहता है 'आपने देखा नहीं? वह कांस्टेबल था दरोगा नहीं था।' तुम कहते हो, 'यह तो मैं भी जानता हूँ, परन्तु कांस्टेबल को 'दरोगा साहब' कहोगे तो खुश हो जायेगा।' निकृष्ट में उत्कृष्ट भावना चाहे मुँह से ही कही, इष्ट फल देती है। और यदि उत्कृष्ट में निकृष्ट की भावना की; है डी.आई.जी. और कहो 'अरे कॉंस्टेबल!' तो वह नाराज़ होगा, अनिष्ट फल देगा। इसी प्रकार सबसे उत्कृष्ट ब्रह्म है। अतः किसी भी चीज़ मे ब्रह्मदृष्टि करो तो वह तुमको ठीक फल दे देगी। परन्तु ब्रह्म को तुम निकृष्ट से एकमेक मत समझना, अन्यथा अनिष्ट ही होगा। निकृष्ट दृष्टि उत्कृष्ट में नहीं करनी चाहिये।

तीसरा दृष्टान्त देते हैं **'जले पैष्टे क्षीरं'**, आटे घुले हुये पानी को तुम दूर से देखकर दूध समझ लेते हो। उपमन्यु के बारे में सब लोग जानते ही हैं, घर में गरीबी थी, दूध का कोई इंतज़ाम नहीं था फिर भी खाते-पीते सब काम चलता ही था। एक बार मामा के घर चले गये, माँ पीहर गई तो वे भी साथ चल दिये। मामा बड़े आदमी थे। वहाँ गायें थीं, खूब दूध पीने को मिलता था। गाय का दूध बड़ा स्वादिष्ट होता है। आज-कल प्रायः शिकायत होती है, माताएँ शिकायत करती हैं 'महाराज आज-कल बच्चे दूध नहीं पीते।' हम कहते हैं कि कभी यह हो ही नहीं सकता कि बच्चे दूध नहीं पीते हों, दूध के लिये तो चोरी करके भी पीते थे! हम लोग क्या, भगवान् कृष्ण तक चुरा लेते थे! पर तुम लोग बच्चों को *दूध* कहाँ पिला रहे हो? गाय का दूध तो पिलाते नहीं। तुम गाय को पहचानते हो? गाय की पहचान क्या है? तर्कसंग्रह में ही पढ़ा देते हैं हमारे यहाँ : जो गले की झालर होती है इसको सासना कहते हैं, जिसके ये झालर होती हैं वह गाय होती है। आज-कल तुमने उनको गाय कहना शुरू कर दिया जिनके झालर का नाम-निशान नहीं! गाय तो

वह है नहीं। जैसे जमाये हुए वनस्पति तेलों को 'घी' बोलने से वह घी नहीं हो जाता वैसे इन जानवरों को गाय बोलने से ये गायें हो नहीं जाती। अतः इंनके दूध में वह स्वाद, सुगंध, शक्ति है ही नहीं कि किसी को इसे पीना पसन्द हो। उस ज़माने में ये गायें तो थी नहीं! मामा के घर बढ़िया दूध पीकर आया। घर में दो-चार दिन के बाद याद आया तो माँ से कहा दूध पिलाओ। माँ ने टाल दिया।

किसी समय यशोदा ने भी टाल दिया था! **'मातः किं यदुनाथ? देहि चषकं'** भगवान् ने कहा–हे माँ! यशोदा ने कहा 'क्या बात है बेटा, क्या कह रहा है?' **'देहि चषकं'** 'मुझे गिलास दो।' माँ ने कहा **'किं ते?'** 'क्या करेगा गिलास लेकर?' **'पातुं पयः'** 'दूध पीऊँगा।' माँ ने कहा 'बहुत पी चुका है', **'तन्नास्त्यद्य'** 'अब आज नहीं मिलेगा।' भगवान् ने कहा **'कदा'** फिर कब मिलेगा?' 'जब रात आयेगी तब मिलेगा, शाम को मिलेगा।' भगवान् ने कहा 'रात क्या होती है, रात कब आती है?' बोली 'जब अँधेरा होता है तब रात होती है।' उन्होंने अपने दोनों हाथों से आँखें बंद कर लीं और कहा 'आ गयी रात, दे दे दूध!' माँ का प्रेम तो स्वाभाविक है, हँस कर दूध पिला दिया।

परन्तु उपमन्यु की माँ क्या करे? उसके घर में तो दूध था नहीं। अतः यह कह दिया कि नहीं है। दो-चार बार ज़िद की तो माँ दूध लाये कहाँ से। अगले दिन आटा घोल दिया और कहा 'लो पी लो।' वह तो असली दूध पी चुका था, थोड़ा-सा उसने मुँह के अन्दर डाला तो थू-थू करके फेंक दिया, 'यह तो दूध नहीं है।' ऋषि की पत्नी झूठ बोलना तो जानती नहीं थी, उसने कहा 'बेटा हम बड़े गरीब हैं, दूध कहाँ से आवे? मैंने तो यह आटा घोलकर दे दिया था।' घुला हुआ आटा, उसमें एक बार तो दूध का भ्रम हुआ। दूर से देखो तब ऐसा भ्रम हो

जायेगा, पीओगे तो कैसे भ्रम रहेगा! उपमन्यु ने पूछा 'फिर मामाजी के यहाँ दूध कहाँ से आता है?' उसने कहा 'बेटा यह तो तपस्या का फल होता है।' उपमन्यु ने भगवान् की तपस्या की, भगवान् शंकर का साक्षात्कार किया। इतना ज़्यादा उन पर भगवान् शंकर का अनुग्रह था, कि भगवान् कृष्ण भी दीक्षा लेने के लिये उपमन्यु के पास ही गये थे। अभी तक केदारनाथ से थोड़ी दूरी पर वह स्थान है जहाँ भगवान् कृष्ण ने रहकर उपमन्यु से दीक्षा ग्रहण की थी, उपमन्यु का आश्रम वहाँ अभी भी है। यह सब हुआ कैसे? इतनी सारी साधना हुई कैसे? **'जले पेष्टे क्षीरं'** यह जो भ्रम है, इस भ्रम के कारण उपमन्यु ठेठ वहाँ तक पहुँच गये। था तो यह भी भ्रम, लेकिन इस भ्रम ने ठेठ वहाँ पहुँचा दिया।

इससे विपरीत कई भ्रम होते हैं जो खाली दुःख ही देते हैं—**'भवति मृगतृष्णासु सलिलम्'** मरु भूमि के अन्दर चले जाओ, दिन के समय सूर्य जब तपता है वहाँ तुमको मृगतृष्णा दिखाई देती है। बड़ा भारी पानी का सागर दिखाई देता है, उसके चारों तरफ पेड़ दिखाई देते हैं, पेड़ों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। वहाँ बेचारे हरिण होते हैं। बीकानेर, जैसलमेर में देखोगे कि चारों तरफ हरिण दौड़ते हैं जैसे तुम्हारे यहाँ मोटरें दौड़ती हैं वैसे वहाँ हरिण दौड़ते हैं। वे हरिण बेचारे उस पानी को पानी समझकर उसकी तरफ दौड़ते हैं। जो पुराने धार्मिक लोग हैं वे इन सब स्थलों पर पत्थर की टंकियाँ बनाकर उनमें पानी भरवा के रखते हैं क्योंकि उनको पता है कि हरिण और कुछ अन्य प्राणी भी प्यास के मारे इधर दौड़ेंगे, पानी मिलेगा नहीं तो कम-से-कम इसको पियेंगे तो जिंदा रह जायेंगे। पहले मानते थे कि जंगल सबका है। अतः जानवरों के बारे में भी विचार करते थे, उनकी भी व्यवस्था करते थे। अब आई तुम्हारी डेमोक्रेसी। इसमें सरकार

का सिद्धान्त है कि सारी ज़मीन के मालिक हम हैं। कैसे बन गये ये मालिक? यह पता नहीं! जिस देश का नारा था 'सबै भूमि गोपाल की' सारी भूमि तो गोपाल की है—तुम भी काम में लो, हम भी काम में लें—उसी देश के अन्दर कानून बन गया कि सारी ज़मीन सरकार की है। धार्मिक लोग पानी रोज़ भरा रहे इसकी व्यवस्था रखते थे। सरकार ने नियम किया कि लोगों को टंकियाँ नहीं रखने देंगे, जानवरों का हम इंतजाम करेंगे। अब सिर्फ कागज़ों में लिखा रहता है कि वहाँ पानी पहुँच गया, जाकर देखो तो कुछ नहीं है। कितने हरिण प्यास के मारे मर रहे हैं, कोई ठिकाना नहीं। वह मृगतृष्णा दिखती है, पर कितना ही हरिण दौड़े, वहाँ एक बूँद पानी तो मिलना नहीं है! वह दौड़-दौड़ कर दुःखी होता है। कई बार जो लोग मारवाड़ के रहने वाले नहीं हैं वे भी उसको पानी समझकर उधर चले जाते हैं, रास्ता भूल जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। यह ऐसा भ्रम है जो सिवाय दुःख के कुछ नहीं देता। इस प्रकार, संसार के जितने विषय हैं उन सबमें भ्रम होता है कि इनमें सुख है, दौड़ते हो उनकी तरफ पर चाहे जितना दौड़ लेते हो, सुख तो हाथ आता नहीं। देवताओं में परमेश्वर दृष्टि भी भ्रम है, विषयों में सुखबुद्धि भी भ्रम है, भ्रम में फ़र्क नहीं है, लेकिन वहाँ का भ्रम तुमको धीरे-धीरे परमेश्वर की तरफ ले जायेगा और विषयों की तरफ कितना भी दौड़ जाओ, न विषय का सुख मिलेगा और न तुमको ऐसी कोई उससे मदद मिलेगी कि तुम आनन्दघन परमात्मा को प्राप्त कर सको। भौतिक व्यवहार तो यावत्प्रारब्ध करना ही पड़ेगा पर जो मान लेता है कि भौतिक वस्तुओं में ही सुख है, इनसे परे कुछ है ही नहीं, वह 'भौतिकवादी' बनकर मृगतृष्णा में जल की तरह संसार में सुख ढूँढता ही रह जाता है, प्राप्त कभी नहीं करता क्योंकि यह विसंवादी भ्रम है। ऐसे व्यक्ति की अधोगति ही होती जाती है। बहुत कड़वी बात भगवान् ने कही है—'उन लोगों को तो मैं बार-

बार आसुरी योनियों में ही डालता रहता हूँ' 'अजस्रं' निरन्तर, उनको मौका ही नहीं मिलता कि उससे बाहर निकलें। ऐसे लोग भी सत्संस्कारवश कदचित् विषयसुख में भी विवेक कर जब समझने लगते हैं कि विषय में प्रतीत ही होता है, सुख उसमें नहीं, तब वे भी शनैः शनैः उस भ्रम से बाहर निकल आते हैं।

जैसे यह भ्रम होते हैं **'तथा देवभ्रान्त्या'** उसी प्रकार से परमब्रह्म परमात्मा यही है—ऐसा मानकर अविचारशील व्यक्ति परमात्मा से अन्य का भजन करता है। उपाधि वाले जितने हैं, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण उपाधि वाले सब परमात्मा से अन्य हुये, उन सब उपाधियों में रहने वाला जो सच्चिदानंद है वह देव है। जहाँ सात्त्विक उपाधि होगी, वहाँ वह सच्चिदानंद तुमको मिल जायेगा। हे महादेव, देवाधिदेव! आपको जो नहीं जानने वाला है वह इस प्रकार से करता है क्योंकि जड जन है : अपनी बुद्धि से जिस उपाधि को देखेगा वह तो जड ही होगी। देखने वाला चेतन है, जिसको देखता है वह जड है। वह फल देने वाला जिसको देखता है, जड बुद्धिवाला होने से समझता है कि यही परमात्मा है। उसको यह समझ में नहीं आता कि जो देखने वाला है वह परमात्मा है, दीखने वाला नहीं। जड जन होने के कारण उसको यह भ्रम होता है। फल देने वाले पशुपति आप हैं, यह वह मन से नहीं समझ पाता। जड जन है इसलिये विचार करके उस तत्त्व को पकड़ नहीं पायेगा। परन्तु जड जन होने पर भी, भ्रान्त होने पर भी, यदि भ्रम उत्तम सात्त्विक उपाधि में करेगा तो वह सफल हो जायेगा, उसे सच्चिदानंद परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी।।८।।

(९)

'पूज्य के विषय में,' देवता के विषय में, साध्य के विषय में भ्रम होता है अतः विचारपूर्वक एकमात्र देवाधिदेव महादेव ही पूज्य हैं और उन्हीं से सारे फल उपलब्ध होते हैं। यह निश्चय करके केवल उनमें ही साध्य-बुद्धि रखकर जब मनुष्य चलता है तब एकाग्रता होती है। अन्यथा अनेकाग्रता बनी रहती है। ठीक जिस प्रकार से कहीं पर साठ हाथ में पानी है, साठ हाथ ज़मीन खोदो तो पानी मिलेगा, परन्तु यदि बीस हाथ यहाँ खोदो, बीस हाथ वहाँ खोदो, बीस हाथ और कहीं खोदो तो कहीं भी नहीं मिलेगा! ऐसा नहीं कि साठ हाथ पानी यहाँ है तो साठ हाथ पानी वहाँ नहीं है, दोनों ही जगहों पर साठ हाथ में पानी है, परन्तु बीस-बीस तीन जगह खोदने पर कहीं नहीं मिलेगा। इसी प्रकार अपने समग्र भावों को जब तुम एक जगह पर लगाओगे तब तो परमात्मा की उपलब्धि होगी। ऐसा नहीं है कि अन्यत्र परमात्मा की उपलब्धि नहीं होगी परन्तु थोड़ा यहाँ किया, थोड़ा वहाँ किया, तब नहीं होगी। अतः एकमात्र परमेश्वर ही फल देने वाला है इस बात का जब हम भली प्रकार से निश्चय कर लेते हैं तो फिर और कोई फल देने वाला नहीं रह जाता। जिस समय नचिकेता के पास यमराज गये हैं और उसको कहा है 'यह ले लो, वह ले लो' तब वह कहता है कि 'जो आप देने को कहते हैं, वह तो आप मिल गये, हमको मिल ही जायेगा! उसकी कामना करने की मुझे ज़रूरत नहीं है। अतः मैं कामना तो केवल आपका जो वास्तविक स्वरूप है, तत्त्व है उसकी करता हूँ।' आप मिल गये तो बाकी सब चीज़ें, धन आदि जो आप कह रहे हैं, वह तो मिल ही जायेगा।' नचिकेता के शब्द हैं **'त्वा चेद् अद्राक्ष्म'** अर्थात् यदि आपको देख लिया तो सब मिल जायेगा। यम-देह

को तो वह देख ही रहा था अतः 'यदि' कहने का स्वारस्य इसी में है कि आपके वास्तविक स्वरूप को जान लिया तो सफलता है। उपास्य को अगर देवतामात्र, व्यक्तिमात्र, समझा तो तत्त्वदर्शन न होने से वास्तविक फल नहीं मिलता। यदि उनके वास्तविक स्वरूप को देख लिया तो सब कुछ मिल ही जायेगा। अतः नचिकेता की प्रार्थना यह है कि आप अपने वास्तविक स्वरूप को बतायें, बाकी सब चीज़ों में कुछ नहीं रखा है। साध्य-विषयक, पूज्य-विषयक, आराध्य-विषयक सारे संदेहों को निवृत्त करके आराध्य के स्वरूप का, पूज्य के स्वरूप का निर्णय आवश्यक है।

जैसे भ्रम हुआ करता है साध्य का, वैसे ही भ्रम हुआ करता है साधन का कि किस साधन से वे प्राप्त होंगे? साधन-विषयक भी भ्रम होता है। यहाँ अंत में आचार्य शंकर एक विचित्र बात कहेंगे : महाराज, मैंने आपको कई तरह से प्रसन्न करने का प्रयत्न किया, फिर भी आप प्रसन्न नहीं हुये क्योंकि आपकी प्रसन्नता का कोई नियम निश्चत रूप में कहा नहीं जा सकता!

'नतिभिर्नुतिभिस्त्वमीश पूजाविधिभिर्ध्यानसामाधिभिर्न तुष्टः।
धनुषा मुसलेन चाश्मभिर्वा वद ते प्रीतिकरं तथा करोमि।।८९।।'

वहाँ साधन-विषयक भ्रमों को इकट्ठा एक जगह कहेंगे। **'नतिभिः'** आपको मैंने बहुत साष्टांग दण्डवत् किया, फिर भी आप प्रसन्न हुये नहीं, अपना स्वरूप दिखाया नहीं। फिर **'नुतिभिः'** तरह-तरह से आपकी स्तुतियाँ भी कीं प्रशंसा भी की, तब भी कुछ हुआ नहीं। ये ही सब प्रसिद्ध साधन हैं। **'पूजाविधिभिः'** कौन-से दिन कौन-सा फूल चढ़ावें, कौन से दिन क्या करे—यों अनेक पूजा की विधियाँ हैं। वह सब भी बहुत करके देख लिया, तरह-तरह की विधियों से आपकी पूजाएँ कीं पर आपके दर्शन न मिले। फिर किसी ने कहा 'अरे! इन सबसे नहीं होता है, ध्यान लगाओ, तब भगवान् मिलते हैं।' किसी भाषा के कवि ने कहा है कि अगर

पत्थर को पूजने से मुक्ति होती तो मैं पहाड़ ही पूज लेता! इसीलिये कुछ मानते हैं कि पूजा में कुछ नहीं रखा है, ध्यान लगाओ तब वह मिलेगा। वह भी हमने करके देख लिया। फिर किसी योगी ने कहा 'इससे भी नहीं होगा भाई, समाधि लगाओ, प्राणायाम प्रत्याहार इत्यादि का अभ्यास करोगे, समाधि होगी तब दर्शन होगा।' वह भी कर लिया। इन सबसे तो आप प्रसन्न हुये नहीं, तो शायद आप साधनान्तर से प्रसन्न होते हों? एक आप का भक्त हुआ था जिसने धनुष से आपको पीटा था! जब अर्जुन ने पाशुपतास्त्र पाने के लिये तप किया तब भगवान् ने उसकी परीक्षा ली। किरात का वेष धारण कर भगवान् ने यह लीला की। वहाँ एक वराह दौड़कर आ रहा था, तो अर्जुन ने उसको बाण मारा। उधर किरात था, उसने भी बाण मारा। दोनों बाण इकट्ठे लगे। शिकार का यह नियम है कि जिसका बाण या जिसकी गोली पहले लगे, उसी का वह शिकार माना जाता है। किरात ने आकर के कहा 'मेरा बाण पहले लगा है', अर्जुन ने कहा 'पहले बाण मेरा लगा है', उसने कहा 'मैं लूँगा', अर्जुन ने कहा 'मैं लूँगा', दोनों में लड़ाई होने लगी। कई तरह से लड़ाई हुई, अंत में किसी तरह जब वह किरात नहीं हार रहा था तो अर्जुन ने अपने धनुष को ही लेकर उसको पीटना शुरू किया। धनुष से पीटते हुये वह भगवान् शंकर का ध्यान करने लगा कि 'महाराज! यह क्या लीला है कि एक भील आकर मेरी ऐसी दुर्दशा कर रहा है!' जब उसने भगवान् शंकर का ध्यान कर उस किरात की तरफ दृष्टि की तो देखता है कि उस किरात के सिर के ऊपर तो जटा है और वहाँ गंगाजी हैं। इस लीला को मन में रखकर आचार्य कहते हैं कि आपकी स्तुति भी की, नमस्कार भी किया, बहुत कुछ कर लिया, पूजा भी की, ध्यान भी किया, समाधि भी लगाई, तब भी कुछ काम बना नहीं लेकिन आपके चरित्रों में सुना जाता है कि धनुष से आपको पीटने से आप खुश

हो गये थे, आप कहिये तो वही कर देवें? मैं भी कहीं से धनुष लाकर आपकी पिटाई करूँ!

किसी ने भगवान् शंकर को मूसल से पीटा था। एक नदी पर पुल मायने सेतु, बाँध बन रहा था। उसके लिये राजा का हुक्म हो गया था कि 'सब लोग वहाँ जाकर काम करें, प्रत्येक घर से एक व्यक्ति को आना पड़ेगा, श्रमदान करना पड़ेगा।' वहाँ एक बहुत बुढ़िया थी, वह किसी तरह से मूरी बनाकर बेच-बाच कर गुजारा करती थी। चलना-फिरना भी उससे नहीं हो सकता था, बहुत बुढ़िया थी। राजा का हुक्म तो जैसा आजकल का है, कहाँ डंडा पड़े कोई ठिकाना तो होता नहीं है! उसके पास जाकर के सरकारी लोगों ने कहा 'एक को भेजो।' उसने कहा 'जी मेरे घर में तो और कोई नहीं है, अकेली हूँ।' 'अकेली है, तो तू ही चल।' वह बेचारी कहाँ जाये और कैसे जाये? वहाँ एक छोटा लड़का आया और उसने कहा, 'तेरी जगह मैं चला जाता हूँ। मैं काम कर लूँगा।' उसने कहा 'हाँ बेटा, अच्छा हो गया, नहीं तो, मैं कहाँ जाती?' लड़का वहाँ गया। बीच-बीच में तो एक-साथ दस टोकरियाँ लेकर बालू भर कर ला देता था, फिर बीच-बीच में खेलने लगता था। छोटा-सा बच्चा पाँच-छह साल का। दूसरे सब उसी को देखने लगें जब वह खेलने लगे, नाचने लगे, गाने लगे। फिर लोग आकर डाँटें 'अरे! काम नहीं कर रहा है! काम कर।' तो फिर बहुत बड़ा पत्थर ला देवे। जब दोपहर के बाद राजा खुद वहाँ आया तब लड़का वहाँ उसी तरह की अठखेलियाँ कर रहा था। राजा ने कहा 'अरे! क्या कर रहा है?' गुस्से से उसको मूसल मारा। जैसे ही मारा वैसे ही वहाँ बच्चा तो रहा नहीं, ज्योतीरूप में परमेश्वर प्रकट हुये। सबने दर्शन किया और वे लुप्त हो गये। तब राजा की समझ में आया और दूसरों की भी समझ में आया। राजा ने पूछा 'अरे,

यह था कौन?' लोगों ने बताया कि उस बुढ़िया के घर से आया था। बुढ़िया से जाकर पूछा 'तेरा कौन था?' बोली 'मुझे पता नहीं। राजा के लोग मेरे पीछे पड़े थे तो मैं भगवान् शंकर की प्रार्थना कर रही थी कि मैं बुढ़िया लाठी टेक कर वहाँ जाकर के क्या काम करूँगी? तभी वह आया था।' इस प्रकार राजा ने मूसल मारा तो आपने उसे दर्शन दे दिये।

'अश्मभिर्वा' एक बार एक राजा ने हुक्म कर दिया कि कोई भगवान् शंकर का पूजन नहीं कर सकता। जो शंकर का पूजन करेगा उसको जेल में डाल दिया जायेगा। बेचारे लोग डर गये। जैसे आज के राजा ने कानून कर दिया कि सफाई कर्मचारी को उसकी जातिवाचक शब्द से कहोगे तो जेल में डाल दिये जाओगे। सब बिचारे चुप रहते हैं, कोई उन्हें उन शब्दों से नहीं कहता। उर्दू बोल सकते हो, उनको सफाई कर्मचारी तो कह सकते हो, सीधा-सादा हिन्दी का शब्द नहीं कह सकते। चमड़े का कार्य करने वाले को (leather merchant) कह सकते हो, अंग्रेजी बोल सकते हो कोई बात नहीं लेकिन पहले से चला आ रहा हिन्दी-शब्द नहीं बोल सकते। राजा तो ऐसे ही होते हैं। ऐसे उस राजा ने कह दिया कि शंकर जी की कोई पूजा नहीं कर सकता। सब डर गये, कि जेल में कौन जाये! सबने पूजा करनी बंद कर दी। एक व्यक्ति भगवान् शंकर का बड़ा भक्त था। उसने सोचा 'मेरा तो बहुत दिल करता है पूजा करने का, कैसे करूँ?' उसके मन में आया कि उनके लिये तो पदार्थ की कोई कीमत नहीं है, उनको फूल चढ़ाऊँ तो क्या, और पत्थर चढ़ाऊँ तो क्या? उनके लिये सब एकरूप हैं। उसने नियम कर लिया कि रोज़ दो पत्थर ले और शिव लिंग के ऊपर फेंके। इस भाव से कि 'भगवन्! इस परिस्थिति में यही चढ़ा सकता हूँ।' राजा के सिपाही उसको पत्थर फेंकते देखें तो खुश हों कि पूजा नहीं कर रहा

है, उल्टा उनको पत्थर मार रहा है। उनकी दृष्टि में तो वह पत्थर मार रहा था। अपनी दृष्टि में पूजा कर रहा था। बारह साल तक प्रतिदिन उसने नियम से ऐसा किया तो भगवान् शंकर प्रकट हो गये, बोले 'वरदान ले लो, तुम क्या चाहते हो?' पूजा से प्रसन्न हो गये। भक्त ने कहा 'महाराज! मुझे तो कुछ नहीं चाहिये। लेकिन सारे शिव भक्तों के इस दुःख को दूर करिये। कोई आपकी पूजा नहीं कर सकता है।' तब उस राजा का राज गया। इन शिवलीलाओं के अभिप्राय से आचार्य ने कहा कि नति आदि से प्रसन्न नहीं हुए तो बताइये, धनुष, मूसल या पत्थर से आपको पीटूँ कि आप प्रसन्न हों? भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों के विषय में इस प्रकार से भ्रम होता है। साधन-विषय में भी निर्भ्रान्त होना चाहिये कि क्या चीज़ उनको चढ़ानी है। पूजा की विधि है क्या? इस विषय को स्पष्ट करते हैं—

गभीरे कासारे विशति विजने घोरविपिने,
विशाले शैले च भ्रमति कुसुमार्थं जडमतिः ।
समर्प्यैकं चेतःसरसिजमुमानाथ भवते,
सुखेनावस्थातुं जन इह न जानाति किमहो ।।९।।

जडबुद्धि व्यक्ति फूल लेने के लिये गहरे तालाब में घुसता है, घोर जंगल में या विशाल पहाड़ पर घूमता है लेकिन आपको केवल अपना मन-कमल समर्पित कर आनन्द से रहना नहीं जानता। हे उमानाथ! यह कैसा आश्चर्य है।

भगवान् शंकर का पूजन करने के लिये व्यक्ति गहरे तालाब में जाता है, कमल निकालने के लिये कि कमल लाकर के भगवान् का पूजन करूँगा तो वे बड़े प्रसन्न हो जायेंगे। गहरे तालाब में कमल के नालों का जाल बना होता है, थोड़ा भी पैर इधर-उधर होकर उसमें फँस जाये तो निकलना मुश्किल है। बड़े खतरे

की जगह है। गहरे तालाब में इतना खतरा उठा कर कमल ले कर आता है कि आपका पूजन करूँगा। क्यों? **'जडमतिः'** जडबुद्धि है! सोचता है, कमल चढ़ाने से भगवान् खुश हो जायेंगे। जड चीज़ों के बारे में जिसका निश्चय है वह परमेश्वर को भी जडरूप ही समझता है। कोई घोर जंगल के अन्दर जो सुन्दर फूल होते हैं उन्हें लेने जाता है। जहाँ कोई आदमी नहीं जाता है वहाँ भी तरह-तरह के फूल खिलते हैं। हम लोग केदारनाथ में रहे थे, वहाँ तो जंगल जाना पड़ता है शौच मैदान करने के लिये। जहाँ शौच करने के लिये बैठो वहाँ चारो तरफ इतनी तरह के फूल खिलते थे जिसका कोई ठिकाना नहीं। ऐसा ही एक हिस्सा है जिसको सिख़ों ने बहुत बढ़ा दिया है। वहाँ लक्ष्मण का एक मंदिर है वह अब गौण हो गया है। सिख उस स्थान को हेमकुण्ड कहते हैं। वहाँ कहीं भी इधर-उधर चले जाओ तो विभिन्न फूल हैं। फूल लेने भक्त घोर जंगल में जब जाता है तो वहाँ शेर, चीते आदि डर की चीज़ें हैं पर वह सारा खतरा उठाकर जाता है ताकि वहाँ से उन फूलों को लाकर भगवान् शंकर को चढ़ाये जिससे भगवान् शंकर खुश हों। **'शैले च'** बड़े-बड़े पहाड़ों के ऊपर चढ़ कर जाते हैं। केदारनाथ से बहुत ऊपर चढ़कर जाते हैं, वहाँ ब्रह्मकमल मिलता है, बर्फ के अंदर वह पैदा होता है। बड़े नियम से जाना पड़ता है, उसको लाने के लिये क्योंकि वह भगवान् को चढ़ाना है, बिना जूतों के जाना पड़ता है, बिना सिला कपड़ा पहने हुये जाना पड़ता है और सबेरे ज़ल्दी जाना पड़ता है सूर्य के उदय होने के पहले, तब वह मिलता है क्योंकि जैसे ही सूर्य की किरणें पड़ती हैं, वैसे ही वह ग्लेशियर गलने लगता है, फिर वहाँ से वह फूल लाना संभव नहीं होता है। सबेरे उठकर बिना सिले कपड़े पहने हुए, बिना जूते पहने हुये जाकर वह कमल लाते हैं। बर्फ के पहाड़ पर चढ़ते हैं, थोड़ा-सा भी इधर-उधर पैर हो जाये तो फिसल के धड़ाम से नीचे गिरें तो

कुछ पता नहीं लगता। ऐसी खतरनाक जगह में जाता है कि ब्रह्मकमल लाकर भगवान् शंकर को चढ़ाऊँगा तो वे बड़े प्रसन्न होंगे।

आचार्य शंकर कहते हैं, ये सब जडमति हैं। जो बात फूल के बारे में कह रहे हैं वही सभी सामग्रियों में समझ लेना। आचार्य कहते हैं, ज़रा विचार करो, परमेश्वर जड है कि चेतन है? चेतन है। तुम भी चेतन हो। तुम्हारा बच्चा अपने को ऐसी भयंकर कठोर परिस्थितियों में डाले तो तुम प्रसन्न होगे कि दुःखी होगे? आयेगा तो डाँटोगे कि 'ऐसा नहीं किया जाता है, शेर खा जाता तो? आगे से किसी ऐसे पहाड़ पर चढ़कर मत जाना, अबकी बार तो भगवान् ने बचा लिया।' ऐसी परिस्थिति में तुम्हारा लड़का अपने को डाले तो तुम खुश नहीं होगे। क्योंकि तुम चेतन हो। इसी प्रकार परमेश्वर चेतन है तो ऐसी भयंकर परिस्थितियों में जाकर तुम फूल लाये हो तो वे क्या खुश होंगे कि तुमको डाँटेंगे? चेतन कभी भी जड से ख़ुश नहीं हो सकता, चेतन तो चेतन से ही खुश होगा। हमारे अंदर यह भ्रम बुद्धि क्यों है? हमको यह भ्रम क्यों होता है? हम जडमति क्यों हो जाते हैं? हम शरीर को अपना स्वरूप समझते हैं, इसीलिये। सामान्य व्यवहार में बेटा या कोई व्यक्ति लाकर हमको अद्भुत फूल दे तो हम खुश हो जाते हैं। फूल से प्रसन्नता तो शरीर को होती है। लेकिन स्वयं को उससे एकमेक कर हम खुश हो जाते हैं। किसे महत्ता दो इस पर खुशी निर्भर करती है। एक बंगाली लड़का था, उसने कैक्टस के बहुत प्रकार, हज़ारों प्रकार लगाये, उनको बेचता भी था। एक बार उसके ससुर ने उसके बगीचे में एक अनोखा फूल देखा। उसने बताया 'लोग इसे पाँच हज़ार रुपयों में खरीदने को तैयार हैं।' ससुर ने कहा 'बेच दे।' वह कहने लगा 'मैं क्यों बेच दूँ? बड़ा दुर्लभ फूल है।' ससुर ने कहा 'अरे दुर्लभ फूल है तो भी

महीने-भर में सूख ही जायेगा, पाँच हज़ार रुपये तो हमेशा रहेंगे, बेच दे।' उसने कहा 'जो पाँच हज़ार रुपया देकर ले जा रहा है उसको उस फूल में कोई आनन्द है कि नहीं? तो मैं खुद ही उस फूल से वह आनन्द ले लूँ, पाँच हजार रुपये लेकर क्या करूँ!' ससुर तो धन के प्रेमी थे अतः समझते थे कि पाँच हज़ार रुपया पास में आ जायेगा तो हमेशा रहेगा, फूल कितना ही देखो, महीने भर में सूख ही जायेगा; और वह सोच रहा था कि यह फूल जो चित्त को सुख दे रहा है उसके सामने पाँच हज़ार रुपये का क्या मतलब! दृष्टियों का भेद है अभी तो हम अपने को शरीर समझते हैं अतः हमारे शरीर के लिये किसी ने फूल दिया, किसी ने कपड़ा दिया, तो हम खुश हो जाते हैं, ऐसे ही हम समझते हैं कि परमेश्वर भी अपने को शरीर समझता होगा, उसको फूल चढ़ायेंगे तब खुश हो जायेगा! चूँकि हम जडमति हैं इसलिये हम परमेश्वर की पूजा भी जडमति से करना चाहते हैं। किन्तु वह चेतन है। चेतन प्रसन्न होगा जब तुम उसको चेतन चढ़ाओगे, अपने चेतन भाव को जब उसको चढ़ाओगे तब वह खुश होगा। इसलिये अचार्य कहते हैं, इन सब चीज़ों से भगवान् खुश नहीं होंगे, **'एकं चेतःसरसिजं समर्प्य'** उनको तो एक ही फूल चढ़ता है; तुम्हारा जो मन-रूपी फूल है वही तुम्हारे पास एक चेतन चीज़ है। यदि उस फूल को आपके लिये चढ़ा देता है, तो आप प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु जडमति पुरुष बाकी सब चीज़ें चढ़ाने को तैयार हो जाता है, यह चेतःसरसिज नहीं चढ़ाता है।

कारण क्या? इसे चढ़ाने में भी खतरे उतने ही हैं जितने उन तीनों में खतरे हैं। तालाब में पानी भरा होता है; पानी कर्म को बतलाता है, कर्म का प्रतीक है। इसीलिये तुम कोई भी कर्म शुरू करते हो तो सबसे पहले 'आचम्य' आचमन करते हो। कर्म बड़ा गंभीर होता है थोड़-सा कर्म में कहीं इधर-उधर हो जाये

तो सारा फल गड़बड़ होता है। बढ़िया मोटर चला रहे हो और पैर ब्रेक की जगह क्लच पर पड़ जाये तो? ब्रेक से गाड़ी रुकती है, क्लच दबाने से फ्री होकर इंजन के नियंत्रण से छूटकर और तेज़ हो जायेगी, धड़ाम से जाकर लगेगी। कर्म में थोड़ी भी असावधानी उचित नहीं होती है, कर्म से आपकी पूजा करें, इसमें भी खतरा है। चित्त को चढ़ाने जाये तो वहाँ जो जाल फँसा हुआ है उसमें फँस जाता है अर्थात् कामनाओं का सम्पर्क छूट न पाने से भगवान् से भी कामना-पूर्ति ही कराते हैं, उन्हें प्रसन्न करने की नहीं सोचते। इसी प्रकार घोर जंगल में जैसे शेर चीते होते हैं वैसे इस चित्त-रूपी फूल को लेने के लिये जाओ, तो इसमें काम, क्रोध, लोभ, बड़े-बड़े भयंकर जंगली जानवर हैं। इन सब जानवरों से बचोगे, तभी अपने चित्त सरसिज को भगवान् को चढ़ा पाओगे। चित्त-रूपी कमल को चढ़ाने जाते हो तो ये काम क्रोधादि भयंकर वृत्तियाँ तुमको दबा लेती हैं। इसीलिये इस चित्त को चढ़ाने में तुम डरते हो और सोचते हो कि कोई दूसरा फूल चढ़ाया जाये तो अच्छा है इस चित्त को कहाँ चढ़ावें। **'विशाले शैले च'**, हमारी रीढ़ की हड्डी में तरह-तरह के कमल हैं, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, विशुद्ध—इन सब जगहों के अन्दर अलग-अलग कमल हैं। इन सब कमलों के ऊपर, पहाड़ों के ऊपर, सारे योगाभ्यास द्वारा चढ़ कर तब जो सहस्रार का कमल है वह भगवान् शंकर पर चढ़े। चित्त-रूपी कमल को सहस्रार से तोड़कर चढ़ाना अति कठिन है। बीच में, साधना के दौरान कहीं भी गिरने में कोई देरी नहीं। जैसे खतरे गभीर कासार में उतरने आदि एक-एक में हैं वैसे तीनों ही खतरे इस चेतःसरसिज चढ़ाने में पूरे-के-पूरे मौजूद हैं। पर प्रसन्न तो भगवान् तभी होंगे जब तुम कर्मजाल से अपने चित्त को बचाओ, जब तुम काम-क्रोधादि विकारों से अपने चित्त को बचाओ, तरह-तरह की योग साधनाओं के चक्र

से बचाओ। इन सबसे बचाकर उस चित्त-कमल को परमेश्वर पर चढ़ाओ तो वे प्रसन्न हों। एक चित्त-कमल चढ़ाने में खतरे कई हैं इसलिये सब घबराते हैं, लेकिन खुश वे इसी से होते हैं क्योंकि चेतन हैं।

ऐसा क्यों है? भगवान् को सम्बोधन कर दिया **'उमानाथ!'** क्योंकि आप उमा के नाथ हैं। पार्वतीजी को उमा क्यों कहते हैं? पार्वतीजी ने जब घोर तपस्या की थी तब माँ ने आकर उनसे कहा था 'उ मा, अरे इतनी नहीं करो!' संस्कृत में 'मा' का मतलब 'नहीं'। ऐसी जो तपस्विनी उस उमा के आप नाथ हैं अतः हम लोग इस प्रकार के घोर कष्टों में घुसते हैं आपकी पूजा के लिये, तो उमानाथ होने से आप बार-बार कहते हैं 'अरे ये नहीं भाई, सीधा-सादा अपना मन चढ़ाओ।' उमा के नाथ होने के कारण आप कभी अपने भक्तों को ऐसे कष्ट के अन्दर ले जाना नहीं चाहते। यदि यह एक 'चेतःसरसिज' चढ़ा दो तो **'सुखेन अवस्थातु'** सुख से रहो। चढ़ा दिया तो तुम्हारा बंधन क्या रह गया? जीव का स्वरूप ही है चित्त से विशिष्ट चेतन। चित्त से विशिष्ट नहीं रहा तो शुद्ध है। तुम्हारे सारे बंधनों का कारण तो चित्त है। उसे छोड़ जैसे ही नींद में गये, तो वहाँ क्या कोई परेशानी रह जाती है? पत्नी को कैंसर हो गया है, डाक्टर ने कह दिया है कि अब दिनों का मामला है, हफ्तों का भी नहीं। ऊपर की साँस ऊपर, नीचे की साँस नीचे रह जाती है—यह मर जायेगी, फिर आगे बच्चों का मैं कैसे पालन-पोषण करूँगा?' ऐसी घोर चिन्ता में पड़े हुये हो, नींद की झपकी आ गई तो क्या रह जाता है कोई दुःख? घोर से घोर दुःख में पड़े हुये हो, लेकिन वह दुःख कब तक रहता है? जब तक चित्त गहरी नींद में न जाये। वहाँ चित्त नहीं है तो कोई दुःख नहीं है। उस चित्त को तुमने परमेश्वर को चढ़ा दिया तो अब तुमको कोई दुःखी करे

कैसे? परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये चित्त उनको चढ़ गया तब तुम हमेशा के लिये आनंद से रहोगे। कहाँ? कहा **'इह'**, 'यहाँ'। यहाँ का मतलब ठीक से समझ लेना। एक तो सीधा अर्थ हो सकता है इस लोक में। परन्तु खाली इह लोक में तो इसका फल मिलना नहीं है। इसीलिये इह का मतलब है 'अभी ही'। ठीक जैसे किसी को दो सौ रुपये देने थे, हम भूल गये देने, उसने कहा 'भाई, तुमसे दो सौ रुपये लेने थे।' तुम खट जेब से रुपये निकालते हो कि 'यहीं ले लो'। वहाँ 'यहीं' का मतलब क्या है? अभी ले लो; यहीं ले लो अर्थात् अभी ले लो। इसी प्रकार तुमने चित्त चढ़ाया और सुख में स्थित हुये; देरी का मामला नहीं है, तुरन्त हो जाता है। परन्तु इस बात को **'जन इह न जानाति'** जन्म- मरण के चक्र के अन्दर पड़े हुये लोग, जो 'जन' हैं वे इस रहस्य को नहीं जानते अतः बाकी सब क्रिया-कलाप में फँसे रहते हैं। आचार्य अत्यन्त दुःख से कहते हैं **'किम् अहो!'** बड़ा दुःख है कि इस सीधी चीज़ को वे नहीं जानते। जो तुम्हें हमेशा दुःख देने वाली चीज़ है उसको चढ़ाने से वे प्रसन्न हो जाते हैं, तुम दुःख से छूट जाते हो। इस बात को तो जानते नहीं और बाकी दुनिया-भर का खुद कष्ट पाकर कहाँ-कहाँ से सामग्री लाते हो जिससे वे पूरे खुश होते भी नहीं! परमेश्वर को तो चढ़ाने के लिये तुम्हारे पास एकमात्र मन है। तुम अपने पूर्ण मन को केवल उनको समपर्ण कर दो, बस इतने से ही उनकी प्रसन्नता हो जाती है, यही एकमात्र साधन है। इस तरह निर्णय रखना चाहिये कि एकमात्र देवाधिदेव महादेव ही साध्य हैं और एकमात्र अपने मन का अपर्ण करना ही साधन है।।९।।

(१०)

साध्य, पूज्य, प्राप्त करने के योग्य एक परमेश्वर ही है और मन का समर्पण ही साधन है—ये दो बातें बतलाईं। इससे क्या नतीजा निकलता है? परमेश्वर सर्वव्यापक, सब जगह एक जैसा मौजूद है। अतः यह प्रश्न नहीं हो सकता कि परमेश्वर कहाँ मिलेगा, कहाँ नहीं मिलेगा। देवताओं के तो स्थान होते हैं, वहाँ वे मिलेंगे, दूसरी जगह नहीं मिलेंगे। बद्रीनारायण के दर्शन करने हैं तो बद्रीनाथ में ही जाना पड़ेगा, यहाँ बैठकर तो बद्रीनारायण के दर्शन नहीं हो जायेंगे! रामेश्वर के दर्शन करने हैं तो रामेश्वरम् में ही जाना पड़ेगा यहाँ बैठकर तो रामेश्वर के दर्शन नहीं हो जायेंगे। परन्तु सर्वव्यापक परमेश्वर के तो यहाँ, बद्रीनारायण, रामेश्वर, जहाँ जाओ वहाँ एक जैसे ही दर्शन होने हैं उसमें कोई फ़र्क नहीं हो सकता क्योंकि वह सब जगह एक जैसा है। इसी प्रकार साधन तुम्हारा मन है। जिसके पास जो मन है, वह उसी साधन से परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है, और कोई साधन तो चाहिये नहीं। अगर तुमको शालिग्राम की पूजा करनी है, तब तो तुमको तुलसी की ज़रूरत पड़ेगी। अमेरिका जाओगे तो कहाँ से तुलसी लाओगे? सब जगह सब चीज़ें नहीं मिलतीं। परन्तु तुम जहाँ भी जाओ वहाँ तुम्हारा मन तो रहेगा ही, बिना मन के तो तुम कहीं नहीं जा सकते! तुम देवता की पूजा के लिये गये हो तो समस्या हो जाती है कि 'अरे, गंगाजल लाना तो भूल गये, या फूल लाना तो भूल गये', तब पूजा कैसे पूरी हो? अटक जाओगे। परन्तु क्या ऐसा भी कभी हो सकता है कि 'अरे, हम अपना मन लाना तो भूल ही गये।' यह तो नहीं हो सकता। जिसकी पूजा करनी है वह सर्वत्र, जिससे पूजा करनी है उसके

बिना तुम कहीं होगे ही नहीं अतः परमात्म-प्राप्ति के लिये किसी विशेष चीज़ की ज़रूरत नहीं। अतः कहते हैं—

नरत्वं देवत्वं नगवनमृगत्वं मशकता,
पशुत्वं कीटत्वं भवतु विहगत्वादिजननम् ।
सदा त्वत्पादाब्जस्मरणपरमानन्द लहरी-
विहारासक्तं चेद्धृदयमिह किं तेन वपुषा ।।१०।।

मनुष्य, देवता, वन्य जीव, मच्छर, पशु, कीट, पक्षी आदि चाहे—जिस योनि में जन्म हो, अगर हृदय हमेशा आपके चरण-कमलों की स्मृतिरूप परमानंद की लहरियों में विहार करने की आसक्ति वाला हो, तो शरीर से क्या फ़र्क पड़ता है।

'वपुषा किं' हम किस शरीर में हैं, इससे क्या फ़र्क पड़ता है? सबसे पहले **'नरत्वं'** कहा है। क्योंकि सारे शास्त्र मनुष्य के लिये हैं अतः मनुष्य-मात्र परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है। हर मनुष्य के पास मन है और जहाँ भी मनुष्य होगा वहाँ परमात्मा है। अगर तुम देवता हो गये तो भी तुम्हारे पास मन रहेगा ही और देवलोक में, स्वर्गलोक में भी परमात्मा रहेंगे ही क्योंकि सर्वव्यापक हैं। अतः यदि देवता का शरीर भी मिल जाये, तो कोई दुःखी होने की ज़रूरत नहीं, वहाँ भी परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी। शास्त्रों में किस्से भी आते हैं यम के, वरुण के, इन्द्र के, बृहस्पति के कि उन्हें परमात्मप्राप्ति हुई। अतः यदि देवलोक में भी जन्म हो गया तो कोई चिन्ता की बात नहीं। देवता का शरीर मिलकर भी पूजा हो सकती है क्योंकि देवता होने पर भी मन होगा ही। देवलोक से सारे लोक समझ लेना। महः, जनः, तपः आदि किसी भी लोक में जाओ या ब्रह्मलोक में जाओ, ब्रह्मलोक के भिन्न-भिन्न रूप वैकुण्ठ गोलोकादि देशों में जाओ, जहाँ भी जाओगे वहाँ तुम्हारा मन होगा ही और व्यापक परमात्मा

भी होगा ही, अतः जहाँ भी जाओ वहाँ तुम परमात्मा का सेवन कर सकते हो। कोई शंका करेगा कि देवता तो बड़े हैं, वे तो कर ही सकते हैं अर्थात्, मनुष्य हों मनुष्य से श्रेष्ठ हों तब परमेश्वर-प्राप्ति कर सकते हैं, निकृष्ट योनियों में नहीं। इसके समाधानार्थ कहते हैं **'नगवनमृगत्वं'** अगर तुम पहाड़ी ज़ानवर भी होकर पैदा हो जाओ तो भी अंतर नहीं आता। सफेद रीछ पहाड़ों में होता है, चमरी गाय पहाड़ों में होती है, अगर तुम 'नग' अर्थात् पहाड़ के जानवर हो, तो भी कोई चिंता नहीं, क्योंकि मन वहाँ पर भी है। पहाड़ी जंगली जानवार भी परमेश्वर का पूजन कर ही सकता है। यदि जंगली जानवर का शरीर मिल जाये, तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। किसी-किसी को तो लगता है कि ऐसा जानवर होना ज़्यादा अच्छा है।

सनत्कुमार एक बार बैठे हुये थे चिन्तन में। उधर से भगवान् शंकर और पार्वतीजी निकले। शंकरजी ने तो कोई ध्यान दिया नहीं सोचा बैठा है तो बैठा रहे। पार्वतीजी को बड़ा बुरा लगा कि 'हम लोग सामने से निकल रहें है और यह खड़ा नहीं हुआ, इसकी समझदारी क्या काम की? इसको इतना भी पता नहीं कि हम लोगों के सामने, बड़े लोगों के सामने खड़ा होना चाहिये! बैठा का बैठा ही रह गया, ठूँठ का ठूँठ।' पार्वतीजी ने कहा 'अरे तू ऊँट का ऊँट है! ऊँट की तरह बैठा का बैठा रह गया! जा, तू ऊँट हो जा।' पार्वतीजी ने कहा तो सनत्कुमार ऊँट हो गये। भगवान् शंकर ने कहा 'अरे काहे को तूने बेचारे को ऊँट बनाया? वे बोलीं, 'कुछ समझ तो होनी चाहिये, अब आप कुछ मत बोलिये, इसको ज़रा भुगतने दीजिये।' शंकरजी हँस दिये, कि तू इसको क्या भुगतायेगी! कुछ साल बीत गये। पार्वतीजी ने कहा 'उधर से एक बार फिर घूमने चलें, सनत्कुमार का ज़रा हाल देखें।' उनके मन में था कि वह दुःखी हो गया

होगा, अब तक काफी साल रह गया, अब ठीक हो जायेगा। भगवान् शंकर ने कहा 'चलो।' चलकर वहाँ आये तो वे आनन्द से बैठे हुये थे! पार्वतीजी ने पूछा 'अरे! कहो, कैसे हो?' बोले 'भगवती! परमानन्द में हूँ, आपकी कृपा से बड़ा अच्छा हो गया। ऋषि शरीर में था तो वहाँ झंझट करनी पड़ती थी, टट्टी जाओ तो हाथ धोओ, आचमन करो। ऋषि शरीर में यह सब करना पड़ता है। खाना खाओ, हाथ धोओ, कुल्ला करो। सबेरे उठो, स्नान करो, संध्या करो--यह सब करना पड़ता था तो निरन्तर शिव-चिन्तन नहीं होता था, विक्षेप हो जाता था। आपने बड़ी कृपा करके मुझे ऊँट का शरीर दे दिया, इसमें बैठे-बैठे टट्टी चले जाओ क्योंकि ऊँट जब टट्टी जाता है तो उसका मल दूर गिरता है अतः उसको इधर-उधर हिलना-डुलना नहीं पड़ता है। ऊँट के शरीर की गर्दन लम्बी होती है, थोड़ा-सा सिर ऊँचा किया तो पेड़ों के पत्ते मिल जाते हैं, काँटों का पेड़ भी ऊँट खा लेता है। बबूल भी मैं बड़े प्रेम से खा लेता हूँ, कोई झंझट नहीं होती। ऊँट के लिये कोई नियम नहीं है कि सबेरे उठकर नहाओ-धोओ। शरीर की सारी झंझटो से आपने मुझे छुड़ा दिया। इस ऊँट के शरीर में रात-दिन चिन्तन चलता है, बड़ा अच्छा किया, आपकी बड़ी कृपा हो गयी।' पार्वतीजी ने विचार किया 'मैंने सोचा था यह दुःखी हो जायेगा, यह तो यहाँ भी सुखी है।' उससे कहा 'तेरे संतोष से मैं बड़ी प्रसन्न हुई, कोई वरदान माँग ले।' सनत्कुमार ने कहा 'भगवती, मुझे कोई वरदान नहीं चाहिये। यहाँ सारी सुविधा है, कोई कष्ट नहीं है, किसी वरदान की ज़रूरत नहीं है मुझे।' अब पार्वतीजी के मन में बड़ा प्रेम आया कि कैसा संतुष्ट व्यक्ति है। उन्होंने कहा 'अच्छा तू वरदान चाहता नहीं, तो मुझे वरदान दे दे।' वे बोले, 'जो आप कहिये, आज्ञा करिये वही दे दूँगा।' तब भगवती ने कहा 'तू मेरा बेटा होकर पैदा हो जा, तेरे जैसा बेटा

मेरे हो तो बड़ा अच्छा हो।' सनत्कुमार ने कहा 'आपकी इच्छा है तो आपका पुत्र होकर उत्पन्न हो जाऊँगा।' तब सनत्कुमार ही स्वामी कार्तिकेय के रूप में पार्वती के यहाँ पैदा हुये। इसीलिये सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् में बतलाया **'तं स्कन्द इत्याचक्षते'** सनत्कुमार को ही स्कन्द, कार्तिकेय कहते हैं। विचार करो, गैर समझदार आदमी तो महा दुःखी हो जाता कि 'मुझे ऐसा शाप दे दिया इन्होंने', परन्तु सनत्कुमार कहते हैं कि इससे क्या फ़र्क पड़ता है! करने का काम तो है **'सदा त्वत्पादाब्ज-स्मरणपरमानन्दलहरी'** आपके चरणकमलों के स्मरण के परम आनन्द की लहरी। ऊँट के शरीर में भी मन है, परमेश्वर के चरणकमल सर्वत्र विद्यमान हैं ही और उस शरीर में कोई दूसरे नियम भी नहीं हैं जिनके कारण स्मरण नहीं कर सकें। अतः कहा कि पहाड़ के पशु बन कर पैदा हों, तो भी कोई फ़र्क नहीं पड़ता है।

पहाडों में जैसे पशु होते हैं, वैसे ही तराई के जंगलों के अन्दर पशु होते हैं। कोई कहेगा कि पशुओं में तो बड़ी बुद्धि होती है, बड़े समझदार होते हैं। अतः भजन कर सकते होंगे, कीट-पतंग तो नहीं कर पायेंगे! आधुनिक लोग कहते भी हैं कि बन्दरों से ही मनुष्य पैदा हो गये। चिम्पैंजी वगैरह से तरह-तरह के प्रयोग करते हैं कि वे मनुष्यों की तरह सोचते हैं। अतः जानवरों के साथ ही कहते हैं **'मशकता'** अगर मुझे मच्छर का ही शरीर मिले, तो कौन-सा हर्जा है? मच्छर के भी तो मन होता है। जहाँ मच्छर है वहाँ परमात्मा भी है और मच्छर के भी मन है। केवल पहाड़ी पशु और जंगली पशु नहीं, अगर आप मुझे मच्छर का शरीर देते हैं तब भी कोई हर्जा नहीं है। मच्छर के शरीर में भी मन है, वह भी अपने मन को समपर्ण कर सकता है। **'पशुत्वं'** पशु कहते हैं जो घर में, आदमियों के द्वारा पाला जाता है, जिसके

गले में पाश होता है, जैसे गाय या वर्तमान काल में कुत्ते होते हैं। इस प्रकार के प्राणियों के ऊपर कुछ जिम्मेवारियाँ भी होती हैं; बैल होगा तो गाड़ी लेकर जाना पड़ेगा, हल जोतना पड़ेगा। गाय होगी तो समय पर आकर दूध देना पड़ेगा। **'नगवनमृगत्वं'** तो बिलकुल छुट्टे हैं, स्वतन्त्र हैं। ऐसे पालतू जानवरों के मन तो हैं ही और परमात्मा वहाँ भी व्यापक हैं अतः वे भी भजन करें इसमें कहाँ रुकावट है? जैसे पशु तुम्हारा उपकार करते हैं, वैसे **'कीटत्वं'** कीड़े भी। जैसे गाय दूध देती है वैसे ही जो केंचुए होते हैं खेतों के अन्दर वे तुम्हारे अनाज की उपज को बढ़ाते हैं। अथवा कुछ बड़े कीड़े होते हैं जैसे साँप। तुम्हारे अनाज को जो खा जाते हैं ऐसे चूहे इत्यादि को खा कर साँप आदि तुम्हारा उपकार करते हैं, सेह इत्यादि आती है, उसको भगाकर तुम्हारा उपकार करते हैं। कोई उस मिट्टी को उर्वरा करके तुम्हारा उपकार करता है, कोई तुम्हारी खेती को नुकसान पहुँचाने वालों को दूर करके तुम्हारा उपकार करता है। मच्छर को गिना था जंगली जानवरों के साथ जो तुम्हारा उपकार नहीं करने वाले हैं। मच्छर से प्रायः कोई उपकार नहीं होता है। पशु जो तुम्हारा उपकार करने वाले हैं, इनके साथ कीट को गिन लिया, केंचुए इत्यादि को गिन लिया जो तुम्हारा उपकार करते हैं। हर हालत में, उनके भी मन हैं ही वे भी परमात्मा का वैसा ही भजन कर सकते हैं।

इन सबसे परम स्वतन्त्र हैं **'भवतु विहगत्वादिजननम्'** चिड़िया। इसीलिये जो परम स्वतन्त्र होते हैं उनको पक्षी के नाम से ही कहते हैं, कि ये परमहंस महात्मा हैं। हंस पक्षी ही है। पक्षी स्वतन्त्र होता है। पक्षी की विशेषता क्या है? चाहे जंगली जानवर हो, चाहे पालतू जानवर हो, सब एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं तो कुछ-न-कुछ अपना पदचिह्न छोड़ जाते हैं।

केंचुआ जाता है, साँप जाता है तो वह भी अपना चिह्न छोड़ जाता है। परन्तु चिड़िया उड़कर जाती है तो वह कहाँ गयी?—इसका कुछ पता नहीं लगता है। बाकी सब तो जिधर से जायें उस रास्ते को कुत्ते सूँघ कर पता लगा सकते हैं पर चिड़िया को इस तरह से नहीं पकड़ सकते! मनुष्य भी हवाई जहाज से उड़ जाये तो कुत्ते निरर्थक रह जाते हैं। इसी प्रकार से शास्त्रकार कहते हैं, जो ज्ञानी होता है, उसके भी कोई पदचिह्न नहीं छूटते। चिड़िया परम स्वतन्त्र है, सारे नियमों से रहित है; ऐसी स्वतन्त्रता भी यदि मुझे मिल गई तो मैं उस स्वतन्त्रता का प्रयोग और किसी काम के लिये न करूँ, उसके अन्दर भी मैं अपना मन आपको ही दूँ। **'विहगत्वादिजननम्'**, आदि से मछली आदि समझ लेना। सर्वत्र एक ही नियम है कि किसी भी शरीर में तुम्हारे पास मन है और तुमने वह उसको दे दिया तो सदा उसके चरणकमलों की जो याद है, स्मरण है वह संभव रहेगी। भगवान् आनन्दरूप हैं। रसगुल्ला मीठा होता है तो रसगुल्ले की याद आयेगी तो किसकी याद आयेगी? मिठास की ही याद आयेगी, और क्या आयेगी। रसगुल्ले की याद आयेगी तो तुमको कड़वाहट की याद तो नहीं आयेगी! जो चीज़ जिसका स्वरूप होता है, वह याद आयेगी, तो वही याद आयेगा। हमारे एक पंडितजी सुनाते थे कि वह जब छोटी उम्र के थे तो कहीं बाजार में उन्होंने जलेबी खा ली तो पिताजी ने उनको ज़ोर से थप्पड़ मारा कि 'ब्राह्मण का लड़का होकर तूने बाज़ार में खा लिया।' ये छोटे ही थे, तभी उनके पिताजी मर गये। सब इनको देख-देख कर रो रहे थे कि 'छोटा बच्चा है और पिता मर गये।' पंडितजी सुनाते थे कि 'उस समय मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि ये इतना रो क्यों रहे हैं? मुझे लग रहा था कि अब मैं जलेबी खा सकता हूँ, कोई थप्पड़ मारने वाला नहीं बचा!' अगर पिताजी थप्पड़ मारने

वाले हैं तब पिताजी को याद करोगे तो थप्पड़ मारने वाला ही याद आयेगा। बोलोगे तुम भगवान् के सामने 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' तो तुमको पिता याद आते ही यह याद आयेगा कि 'भगवान् पापियों को खूब दंड देते होंगे।' ऐसा नहीं समझ लेना कि हम कल्पना से कह रहे हैं। ईसाईयों की किताब देखोगे तो उसके अन्दर आता है, 'हमारा भगवान् बिना दंड दिये किसी को छोड़ता नहीं।' बड़े घमंड से वे यह बात कहते हैं! जिस-किसी ने वह लिखा होगा, उसके पिता ने उसकी खूब धुनाई की होगी! उसने जब ईश्वर को पिता समझा तब 'पिता' से उसे मारपीट करने वाला ही याद आया। जिसका पिता अपने बच्चे को गोद में लेकर हमेशा दुलारता, रहेगा वह जब कहेगा 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' तब उसकी आँखों में पानी आयेगा कि 'पिताजी कितने प्रेम से मुझे खिलाते थे। भगवान् शंकर भी मुझे गोद में लेकर एक दिन ऐसे ही खिलायेंगे।' एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का स्मरण कराता है। वह देवाधिदेव महादेव आनन्दघन हैं इसीलिये जैसे ही तुमको उनका स्मरण आयेगा, वैसे ही आनन्द का स्मरण आयेगा। जब वह आनन्द की लहरी उठती है तब यदि मेरा हृदय उस आनन्द की लहरी के, तरंग के विहार में आसक्त रहे, तो शरीरभेद अकिंचित्कर है। विहार का मतलब जानते ही हो; आनन्दपूर्वक तुम चला-फिरा करो तो उसको विहार कहते हैं। कहीं तुमको काम पर दौड़कर जाना है, कवायद करने के लिये जाना है तब 'मैं विहार करने जा रहा हूँ', ऐसा नहीं कहोगे। प्रेम से अपने प्रेमी जनों के साथ किसी बगीचे में घूमने के लिये जाओ जहाँ चारों तरफ फूल खिल रहे हैं, फल लटक रहे हैं, तभी कहेंगे कि विहार करने जा रहे हैं। इसी प्रकार परमेश्वर की स्मृति के साथ जुड़ी जितनी चीज़ें हैं—वे सद्रूप हैं, चिद्रूप हैं, आनन्दरूप हैं, अनन्तरूप हैं, भूमा हैं, असंगरूप हैं, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त

स्वरूप हैं, ये सब भिन्न-भिन्न फल लटक रहे हैं। आनन्द की **लहरी** में हम इन सब चीज़ों के साथ विहार कर रहे हैं, खेल रहे हैं, तभी उसका नाम विहार है। शरीर इनमें से कोई भी हो, मन और परमेश्वर है ही, अतः अगर ऐसा विहार हो रहा है तो किस शरीर में हम कर रहे हैं, इससे क्या फ़र्क पड़ता है। कुछ फ़र्क नहीं पड़ता। चूँकि साधन मन हैं, साध्य परमात्मा है, इसीलिये परमेश्वर की प्राप्ति में सबका एक जैसा अधिकार है। जिसके पास मन नहीं हो वह नहीं कर सकता है किन्तु मन सब के पास है।

एक नियम यह है कि सुनाना उसको चाहिये जिसके काम की बात हो। हिन्दी में इसीलिये कहते हैं 'भैंस के आगे बीन बजाई भैंस खड़ी पगुराये' बढ़िया सुन्दर वीणा-वादन तुम करने लगो भैंस के आगे, भैंस क्या करेगी? मुँह को चलाने लगेगी, और क्या करेगी! उसको तो कुछ समझ में आयेगा नहीं। बात उसको सुनानी चाहिये जिसके मतलब की हो। यह सुना किसको रहे हैं? मनुष्य को सुनायेंगे, मच्छर तो यहाँ इस समय कमरे में है भी नहीं, पहाड़ी पशु आ कहाँ से जायेंगे? जंगल वाले भी यहाँ घुस कर आ नहीं सकेंगे, बाहर कोई बगीचा भी नहीं है कि कोई कीड़े हो जायें; सुना मनुष्य को रहे हैं। एक न्याय है **'मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य'** शास्त्र मनुष्य सुनता है इसीलिये उसमें कही हुई बात को हमेशा मनुष्य के लिये समझना।

सबसे पहले कहा **'नरत्वं'**। कैसे मुनष्य को नर कहते हैं? **'न रमते विषयेषु इति नरः'** जो विषयों में अपने मन को नहीं रमाता, उसको नर कहा जाता है अर्थात् वैराग्यवान्। विषयों के प्रति जिसको वैराग्य है सर्वप्रथम उसका नाम लिया क्योंकि मुख्य अधिकारी तो वही है। संसार के विषयों में जिसका मन नहीं लगेगा वह स्वभाव से निरन्तर परमात्म-चिन्तन में लगेगा। न मनुष्य

कुछ जाने बिना रह सकता है, न कुछ चाहे बिना रह सकता है, न कुछ किये बिना रह सकता है। जब तक तुम मनुष्य हो तब तक कुछ-न-कुछ जानोगे ही। तुमको यदि अँधेरे कमरे में बंद कर दिया जाये, कहीं कोई खिड़की न हो, अन्दर कोई रोशनी न हो, तो क्या वहाँ कुछ नहीं जानोगे? वहाँ भी पड़े-पड़े जानते रहोगे 'मुझे कैसा बंद कर दिया है।' दुनिया-भर की बातें याद आती रहेंगी वहाँ पर। कुछ-न-कुछ तुम जानते ही रहोगे, बिना जाने नहीं रह सकते। कुछ-न-कुछ चाहते ही रहोगे, 'कोई ऐसी अर्जी पहुँच जाये राष्ट्रपति के पास, उनके हृदय में दया आ जाये और वह मुझे कैद से निकाल दें'—यही चाहते रहोगे। या अगर रजोगुणी हो तो यह भी मन में आ सकता है कि 'यहाँ कहीं लोहा मिल जाये तो सिर पीट कर आत्महत्या ही कर लें'। चाहे छूटना चाहो, चाहे मरना चाहो, कुछ-न-कुछ तो चाहना होती रहेगी। कभी पैर इधर करोगे, कभी पैर उधर करोगे, कभी खड़े हो जाओगे कभी बैठोगे, कुछ-न-कुछ तो करते ही रहोगे। किसी भी परिस्थिति के अन्दर बिना चाहे, बिना जाने, बिना किये नहीं रहोगे। चूँकि तुम राग वाले हो, विषयों में रमण करते हो, इसीलिये किसी-न-किसी संसार की चीज़ को जानते रहते हो, किसी-न-किसी संसार की चीज़ की इच्छा करते रहते हो, किसी-न-किसी सांसारिक कार्य को करते रहते हो। अगर तुम नर हो तो संसार के विषयों के लिये तुम्हारी ज्ञान, इच्छा व क्रिया कार्यकारी होगी नहीं, अतः हमेशा क्या करोगे? परमात्मा का ही ज्ञान करोगे, परमात्मा के लिये ही इच्छा करोगे, परमात्मा के लिये ही क्रिया करोगे। **'नरत्वं'** कहकर सबसे पहले उस उत्तम वैराग्यवान् भक्त का उल्लेख है।

'देवत्वं' देवता भोगी होते हैं। यदि वैराग्यवान् शरीर नहीं है और भोग-परायण है तो देवताओं जैसी स्थिति है। भोगों की

तरफ हमारा प्रारब्ध हमको ले जाता है, तरह-तरह के भोग उपलब्ध कराता है। प्रारब्ध चाहे-जितने भोगों को उपलब्ध कराये, हम भोगेंगे ही, भोगना पड़ेगा। परन्तु हमारा जो हृदय है, मन है वह यदि सदा भगवद्भजन में लगे तो कल्याण हो जायेगा। भोगों के अन्दर पड़ा हुआ व्यक्ति भी यदि निरन्तर अपने हृदय में परमात्म-चिन्तन कर रहा है, तो भी कोई बात नहीं। यदि आप अत्यन्त भोगी वातावरण में ले जायेंगे तो भी मैं कोई शिकायत नहीं करूँगा क्योंकि वहाँ भी अपना मन, आपको ही दूँगा। पहाड़ी जो जानवर होते हैं, उनसे गर्मी सहन नहीं होती है। अगर तुम पहाड़ से सफेद रीछ को नीचे ले आओ तो मर जायेगा क्योंकि वह यहाँ की गर्मी बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार से बहुत से लोग होते हैं जो संसार के दुःख को सहन नहीं कर पाते, ऐसे 'मनुष्य पहाड़ी जानवर' हैं। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो दुःख से घबराते हैं। पाँच मिनट को बिजली चली जाये तो वे ऐसे घबरा जायेंगे मानो कोई बड़ा भारी कांड हो गया हो! दूसरे हैं जंगली जानवर जो हमेशा भयभीत रहते हैं। जंगल में जो शेर होते हैं उनसे सब डरते हैं। जंगल में जानवर हमेशा भयाक्रांत रहते हैं। इसी प्रकार से कुछ मनुष्य हमेशा भयभीत रहते हैं, किसी पुलिस वाले को देखेंगे अपने दरवाजे के सामने तो सोचेंगे, 'हमारे लिये ही आया है।' कोई बाल इधर-उधर किये हुये, दाढ़ी बढ़ाये हुये चार-बार उनके मकान के सामने इधर-उधर घूम जाये, तो उनको निश्चय हो जाता है कि 'माफिया ग्रुप या टेररिस्ट मेरे पीछे लग गया है।' हमेशा भयभीत रहते हैं। उनके उल्लेख से आचार्य कहते हैं, 'हे परमेश्वर! यदि तुमने भयभीत बनाया है, दुःख से घबराने वाला बनाया है तो, जैसा तुमने बनाया, जैसा प्रारब्ध है, वैसा ही मैं हूँ। परन्तु मन तो मेरा है ही, आप भी हैं, तो मैं डरता रहूँगा परन्तु मन आपको ही चढ़ाता रहूँगा,

आपत्तियों से घबराता रहूँगा, परन्तु मन आपको ही चढ़ाता रहूँगा। आपत्तियाँ हमारे ऊपर आयेंगी तो भी हम घबराकर यही कहेंगे, 'हे देवाधिदेव महादेव, तुम बचाओ।' इधर-उधर और किसी से माँगने नहीं जाने वाले। अगर भयभीत भी रहूँगा तो प्रार्थना करूँगा 'मैं अत्यन्त आर्त्त हूँ, भयभीत हूँ, हे देवाधिदेव महादेव, शिव, तुम बचाओ।' बाकी मैं किसी पुलिस अफसर से कहने वाला नहीं हूँ कि मुझे बचाओ। न भैरव से कहने वाला हूँ, न किसी शनि देवता से कहने वाला हूँ।'

मच्छर-मक्खी को देखते ही लोग उसको उड़ाते हैं। ऐसा नहीं कि वह काटे तब उड़ावें, देखते ही उड़ाते हैं। कहते हैं कि 'मक्खी के पैरों में बड़े कीड़े होते हैं, खाने पर बैठ जाती है तो जहर हो जाता है इन्फेक्शन हो जाता है। अरे, तो जब चावल दाल पर बैठ जाये तब उड़ा देना, अभी थोड़े ही बेचारी बैठी है, वह तो इधर-उधर उड़ रही है। लेकिन सब हमेशा उसको उड़ाने के प्रयास में रहते हैं। इसी प्रकार कई लोग ऐसे होते हैं, ऐसे स्वभाव वाले होते हैं कि लोग उनको हमेशा उड़ाना चाहते हैं कि किसी तरह से हटें यहाँ से, दूर हों। बहुत साल पहले काशी में एक महात्मा था, उसको गप मारने की बड़ी आदत थी। काशी तो पढ़ाई की जगह है और पुराने ज़माने में पढ़ाई का तरीका भी आजकल जैसा नहीं था। आज जो पाठ देते थे वह कल पहले सुनते थे, तब आगे का पाठ पढ़ाया जाता था और अगर तुमने सुनाने में कोई कमी कर दी तो उस दिन आगे पाठ चलेगा नहीं। अतः लोग हमेशा तैयारी करते रहते थे। अब वह महात्मा किसी के भी कमरे में पहुँच जाये, गप्पें मारे, हटे नहीं वहाँ से। अतः उसको आते, देखते थे तो लोग खटाखट अपने कमरे को बंद करने लग जाते थे कि कहीं आ गया तो सारी पढ़ाई खराब कर देगा। वह बेचारा इधर-उधर घूमता था कि किसी

का दरवाजा खुले तो घुसूँ। ऐसे लोग मशक हैं, मच्छर की तरह हैं। यदि आपने मुझे ऐसे स्वभाववाला बना दिया, कि सब मुझे भगाते रहते हैं तो मैं भागता रहूँगा लेकिन आप तो हैं, आपको को मैं सुनाता ही रहूँगा। आप व्यापक हैं, आप तो कहीं जा नहीं सकते, हमारा मन तो आप में ही लगेगा।

'पशुत्वं' पशु तो हम लोग हैं ही, बुरा नहीं मानना। बच्चों के लिये माता-पिता भी पशु हैं। सबेरे से शाम तक काम करते हैं कि बच्चे ठीक तरह से पढ़ जायें, बच्चों को खाना ठीक तरह से मिल जाय। जैसे गाय दूध देती है उसी प्रकार बच्चों के लिये भी हम लोग पशु ही हैं। वेद ने तो जबरदस्त बात कही है : देवताओं के भी हम पशु हैं, क्योंकि रोज़ उठकर हम उनको आहुति देवें, तब उनको खाने को मिलेगा। अगर हम उनको आहुति नहीं देंगे और उनको खाने को नहीं मिलेगा तो वे हमारे ऊपर कृपा भी नहीं करेंगे। जैसे कोई गाय दूध न दे तो साल, डेढ़ साल तक तो आदमी देखता है कि शायद अब गाभिन हो, पर जब डेढ़ साल बाद भी देखता है कि नहीं हो रही है, तो उसकी हरी घास बंद हो जाती है! ठीक इसी प्रकार से देवताओं को जब तक हम आहुति इत्यादि देते रहते हैं तब तक वे भी हमको बढ़िया अन्न वगैरह देते रहते हैं; हमने उनको आहुति देना बंद किया तो वे कभी उड़ीसा में तूफान ले आएँगे, कभी तेलंगाना में, कभी कहीं और ले आएँगे; जैसा तुमने किया, वैसा तुमको भुगतना पड़ेगा। आहुतियाँ देते रहते हैं तो ठीक चलता रहता है। पशु तो हम लोग हैं ही। श्रुति भी हमको **'देवानां पशुः'** कह रही है।

और कीड़े की तरह हम किसका उपकार कर रहे हैं? तुम्हारी सरकार बैठी हुई कहती है 'सारे व्यापारी खून चूसने वाले

हैं, चोर हैं, बेईमान हैं', और फिर वे ही व्यापारी कमा-कमा कर सरकार को टैक्स देते रहते हैं। गाय ने दूध दिया तो कम-से-कम सब लोग कहते हैं, 'गऊ माता'। उस बेचारे कीड़े को तो कोई माता कहता भी नहीं हैं! ठीक इसी प्रकार से व्यापारियों को सब 'चोर, बेईमान, खून चूसने वाले' कहते हैं और वे बेचारे कमा-कमा कर टैक्स देते रहते हैं। अगर हमको आपने ऐसा बनाया है तो भी कोई बात नहीं, उनको टैक्स देते रहेंगे, पर मन तो आपको देंगे। और यदि कहीं आपने ऐसी कृपा कर दी कि सवर्था हम स्वतन्त्र प्रकृति के हो गये, शरीर के बन्धनों से, मन के बन्धनों से मुक्त होकर बिना किसी उपाधि के आपका जो निरुपाधिक रूप है, जिसकी कहीं कोई सीमा नहीं है, निरन्तर उस भूमा के अन्दर ही हम घूमते रहेंगे। यदि आप ऐसी कृपा करें तो फिर क्या कहना है? फिर तो आपके अन्दर हमारा हृदय गमन करता ही रहेगा। विविध प्रकार के मनुष्यों को कहकर आचार्य कह रहे हैं कि अगर ऐसे मनुष्य भी हम हों, तब भी यदि हमारा चित्त आपके चरणों में **'विहारासक्त'** रहे, तो प्रारब्ध के द्वारा दी परिस्थितियों का महत्त्व नहीं। संसार के लोग एक परिस्थिति को बदल कर दूसरी परिस्थिति लाना चाहते हैं। जो परमात्मा में आसक्त है वह इसके लिये व्यर्थ परिश्रम करता नहीं, क्योंकि उसको जो प्राप्त करना है वह किसी भी परिस्थिति में प्राप्त किया जा सकता है। अतः वह तो उसकी चिन्ता छोड़ कर, केवल परमात्म-स्मरण में लगता है, परिस्थितियों को बदलने में नहीं लगता, उसका सारा पुरुषार्थ केवल उसी के लिये लगता है।।१०।।

(११)

पूज्य का निरूपण किंया, पूजा में जिस साधन का प्रयोग करना है उसका विचार किया और फिर पूजक अपने कर्मों के द्वारा जैसी परिस्थिति में पैदा हुआ है उसका विचार करके बतलाया कि जहाँ भी पैदा हुआ है, उस परिस्थिति का परिवर्तन करने की ज़रूरत नहीं है। जैसी परिस्थिति है, उसी में परमात्मा का चिंतन करना है। अन्यथा, आदमी का अधिकतर स्वभाव परिस्थितियों को बदलने का है; पेट ठीक हो जायेगा, फिर भजन करेंगे। भजन करना चालू करोगे उसके पहले बुखार आ जायेगा। बुखार ठीक हो जायेगा, फिर करेंगे। धन की कमी है, धन की कमी ज़रा पूरी हो जाये, तब करेंगे। धन की कमी दूर होगी, तब तक कोई और चीज़ आ जायेगी। जो परिस्थितियों के परिवर्तन में लगता है वह परमात्मा के मार्ग में आगे नहीं बढ़ पाता। अपने यहाँ वर्ण धर्म हैं, आश्रम धर्म हैं। जहाँ पैदा हो गये वहाँ का हो गया वर्ण, जो जन्म से निर्णीत है। उसके बाद हम अपने जीवन का किस प्रकार का क्रम बनाते हैं; वे आश्रम धर्म हैं। जन्म से प्राप्त स्थितियाँ तो नरत्वम् आदि से कह आये, अब चुनी हुई स्थिति के बारे में कहते हैं–

बटुर्वा गेही वा यतिरपि जटी वा तदितरो,
नरो वा यः कश्चिद् भवतु भव किं तेन भवति ।
यदीयं हृत्पद्मं यदि भवदधीनं पशुपते,
तदीयस्त्वं शंभो भवसि भवभारं च वहसि ।।११।।

नर बटु, गृहस्थ, यति, वनस्थ या इनसे अन्य जो कुछ भी हो, उससे क्या होता है! जिसका हृदयकमल आपके अधीन है, आप उसके हो जाते हैं व उसके संसार का बोझ ढो लेते हैं।

ऐसा नहीं है कि एक प्रकार के चुनाव में भजन कम होता हो दूसरे प्रकार के चुनाव में ज़्यादा होता हो। चार आश्रमों को गिना—बटु, गेही, यति, जटी। 'बटु' अर्थात् ब्रह्मचारी; ब्रह्मचारी के आश्रम के अन्दर विद्याध्ययन, तपस्या और गुरु शुश्रूषा कार्य हैं। बटु-शब्द का प्रयोग विशेषकर इसलिये किया कि ब्रह्मचर्य आश्रम दो प्रकार का है : एक उपकुर्वाण, दूसरा नैष्ठिक। जो आश्रम में प्रवेश करता है विद्याध्ययन करके आगे अन्य आश्रम में जाने के लिये, उसको कहते हैं उपकुर्वाण ब्रह्मचारी। उसने अपने जीवन भर के लिये जीने का वह क्रम चयनित नहीं किया है। वह ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद जहाँ जायेगा वहीं उसका जीवन निर्णीत होगा। नैष्ठिक ब्रह्मचारी अर्थात् जिसने अपने जीवन में निर्णय ही यह किया है कि 'यावत् जीवन मुझे अपने गुरु की शुश्रूषापूर्वक विद्याध्ययन और तपस्या करनी है', उसे 'बटु' कहते हैं। ब्रह्म-शब्द के अर्थ अमरकोष में तीन बतलाये हैं—**'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म'** ब्रह्म-शब्द का एक अर्थ है वेद, दूसरा अर्थ है परमात्मा चरम तत्त्व, तीसरा अर्थ है तप। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर अध्ययन, तपस्या और परमात्म-चिंतन इन तीन में लगना है। परमात्म-चिंतन में तो सभी आश्रम लगेंगे, परन्तु बटु के जीवन का विशेष क्रम अध्ययन और तप है। तप को 'दुर्धर्ष' माना है। संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसको तप के द्वारा प्राप्त न किया जा सके। सनातन धर्म ने सबसे ज़्यादा महत्त्व तपस्या को दिया है। वर्तमान काल में ठीक इसके विपरीत, सबसे ज़्यादा ज़ोर तप को त्यागकर भोग पर दिया जा रहा है। हमारे यहाँ चार वर्णों में ब्राह्मण को श्रेष्ठ मानते थे क्योंकि वह तपस्वी था। भोग-सामग्री की उपलब्धि तो क्षत्रियों को, राजाओं को होगी। धनादि के ऐश्वर्य की प्राप्ति बनियों को, वैश्यों को होगी। ब्राह्मण के पास भोग-सामग्री कुछ नहीं है, उसका तो ज़ोर ही तप है। जितना तप करेगा उतनी ही सामर्थ्य बढ़ेगी। वर्तमान काल में लोग समझते

हैं कि जिस चीज का हम अधिक प्रयोग करते हैं भोग करते हैं, उससे शक्ति बढ़ती है, यह आधारभूत फ़र्क है।

रमण महर्षि अपना अनुभव बतलाते थे : अरुणाचल में वे जहाँ रहते थे, बन्दर बहुत होते हैं। बन्दरों का टोला हुआ करता है। उसमें एक बन्दर होता है, बाकी सब बन्दरियाँ होती हैं। अगर कभी कोई दूसरा बन्दर आता है तो वह उस बन्दर से लड़ेगा। वे बन्दरियाँ उसमें कुछ भाग नहीं लेंगी, अपना चुप-चाप खड़ी रहेंगी। दोनों में लड़ाई होकर जो जीत जायेगा, उसके साथ वे बन्दरियाँ चली जायेंगी। वे बतलाते थे कि एक बार एक बन्दर का दूसरे बन्दर के साथ संघर्ष हुआ, उसमें जो टोले का नायक था, वह बहुत बुरी तरह घायल हो गया और सर्वथा हार गया, शरीर से खून निकलने लगा जगह-जगह से, अतः वह भाग गया। वह जो दूसरा बन्दर था उसका टोला और बड़ा हो गया। दक्षिण भारत के अन्दर मंदिर के सामने दरवाज़े पर बहुत बड़े गोपुर हुआ करते हैं। घायल बन्दर अरुणाचलेश्वर के गोपुर पर सबसे ऊपर चढ़कर घायल अवस्था में बैठ गया। लोगों ने सोचा कि घबरा कर पहुँच गया है, लोग कुछ खाना लेकर गये, हल्दी-वल्दी की पट्टियाँ बना कर ले गये कि बाँध देंगे, क्योंकि बेचारा घायल है। पुराना बन्दर था, बहुत साल से वहाँ रह रहा था। न तो उसने कुछ खाया, न पिया, न कोई उसने पट्टी बँधवाई। लोगों ने जितना भी प्रयत्न किया, उसने कुछ नहीं खाया, बस एक-टक देखता रहा पूर्व दिशा में। लोगों ने सोचा अभी परेशान है, अगले दिन फिर गये, फिर भी उसने कुछ नहीं खाया। वहाँ से कहीं आये-जाये नहीं। धीरे-धीरे लोगों ने सोचा कि वह मर जायेगा, भूखों मर जायेगा। प्रयत्न अपनी तरफ से करते थे मगर वह खाता-पीता कुछ नहीं था और न वहाँ से कहीं हटता था, पूर्व दिशा में एक तरफ देखता था। सात दिन होने के बाद आठवें

दिन वह स्वयं नीचे उतरा। लोगों ने सोचा अब ज़रा इसका चित्त कुछ शान्त हुआ होगा। फिर उसको खाने को देने लगे, पर उसने कुछ नहीं खाया-पिया! इधर-उधर गया तो जिसने उसको हराया था वह सामने दीख गया। सीधा दौड़कर उसके पास गया। सब लोग चिल्लाने लगे 'अरे! पहले ही घायल था, फिर सात दिन से कुछ खाया-पिया नहीं, फिर उसी की तरफ जा रहा है, वह मार डालेगा।' किन्तु वह सीधा वहाँ गया और फिर युद्ध शुरू हो गया। जो वह घायल था, उसने उस दूसरे बन्दर को हरा दिया! वह भाग भी गया। उसके बाद उसने खाना-पीना शुरू किया। सारा टोला उसका हो गया। तो रमण महर्षि कहते थे कि मनुष्य की तो बात क्या है, पशु भी तपस्या के द्वारा प्रबल शक्ति को प्राप्त करता है।

इसीलिये यजुर्वेद कहता है 'तपोहि दुर्धर्षं वदन्ति' तप को कोई धर्षण अर्थात् दबा नहीं सकता। अतः जो आजकल यह मान लिया जाता है कि तपस्या के अन्दर हम किसी अंग का प्रयोग नहीं करते हैं, किसी भोग का प्रयोग नहीं करते हैं, तो शक्ति क्षीण हो जायेगी, ऐसा कभी नहीं होगा। शक्ति बढ़ेगी। फिर लोगों को भ्रम क्यों होता है? तप की दृष्टि से किया जायेगा तो शक्ति बढ़ेगी और बिना तप की दृष्टि के करोगे तब यह स्वाभाविक है कि जिस अंग का प्रयोग नहीं करोगे, उस अंग की शक्ति कमज़ोर होगी। आज काम में लगे हुये हैं, खाने को नहीं मिला, सोचते हो कि चलो अच्छा हुआ, आज एकादशी का दिन था, एकादशी का व्रत हो गया। किन्तु व्रत नहीं हुआ। प्रत्येक व्रत के लिये नियम है कि प्रातः काल उठकर पहले संकल्प करो कि आज मैं व्रत रखूँगा। तब निश्चयपूर्वक जब करोगे, नियमों के साथ व्रत करोगे, तब वह एकादशी का व्रत होगा, तपस्या होगी। दुकान में बैठे हुये हैं, ग्राहक ज्यादा आ गये, समय नहीं मिला तो

एकादशी का व्रत नहीं हो जाता। वरन् उससे कमज़ोरी बढ़ेगी। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर तप प्रधान है, उसमें यावत् जीवन तपस्या करनी है। अपने समाज में ब्राह्मण के पास तप-रूपी धन था इसीलिये उसको हम समाज में श्रेष्ठ मानते थे। राजा राज्य करता था, भोग करता था, वैश्य धन कमाता था, भोग करता था; ब्राह्मण के पास भोग का कोई साधन नहीं था। आज हम अपने बच्चों को ठीक उल्टी बात पढ़ाते हैं कि सारे ब्राह्मण शोषक थे, अनधिकृत लाभ उठाने वाले थे और जो रात-दिन भोग-परायण रहे वे दलित हैं! जो भोग के द्वारा अपनी शक्तियों का क्षय करके शक्ति वाले नहीं रह गये वे हो गये दलित और जिन्होंने तपस्या के द्वारा अपनी शक्ति को स्थिर रखा और बढ़ाया वे सारे हो गये दलन करने वाले—यह बच्चों को पढ़ाया जाता है। ब्राह्मण ने यदि किसी को दलित किया तो दलन से प्राप्त हुआ सारा माल उसके पास कहाँ रखा गया? पुराणों के काल में, इतिहास काल में, मेगस्थनिज, फाह्यान, ह्वेनसांग आदि विदेशी यहाँ आये। उसके बाद विजयनगर साम्राज्य के समय भी लोग आये, किसी ने क्या कहीं लिखा है कि ब्राह्मणों के पास बहुत भोग सामग्री थी, बहुत धन था? नहीं, क्योंकि ब्राह्मण की श्रेष्ठता यह थी कि वह तपस्वी था। सब लोग उसको सिर झुकाते थे। ब्राह्मण किसको सिर झुकायेगा? ब्राह्मण संन्यासी को सिर झुकायेगा, क्योंकि कम-से-कम, समय पर भोजन के लिये ब्राह्मण के पास पत्नी है, मकान है; उतना भी जिसने भोग त्याग कर दिया, ब्राह्मण अपनी अपेक्षा भी उस संन्यासी को श्रेष्ठ समझता है कि वह मुझसे ज़्यादा तपस्वी है। जिसने वस्त्र तक का परित्याग कर दिया, गंगोत्री में, दिगम्बर, अवधूत रहता है, संन्यासी भी अपने में उसी को सबसे श्रेष्ठ समझते हैं।

वर्तमान में ठीक इसके विपरीत है; जितनी जिसके पास भोग सामग्री अधिक है, उतना ही उसको श्रेष्ठ माना जाता है! ब्रह्मचारी

की श्रेष्ठता क्या है? तपस्या। और साथ में अध्ययन। उसको निरन्तर अध्ययन में लगना है। अध्ययन से होता है ज्ञान। ज्ञान की विशेषता है कि उससे सबका लाभ होता है, ज्ञान किसी एक व्यक्ति का हुआ नहीं करता! फराड़े ने बिजली का आविष्कार किया, बिजली का फ़ायदा तो हम सब उठा रहे हैं। इसी प्रकार से हर चीज़ का आविष्कार करने वालों को उससे थोड़ा ही फल मिला होगा। ज्ञान ऐसी चीज़ है कि फैल कर सबका कल्याण करती है, सबको फायदा पहुँचाती है। आजकल व्यापार लोगों के सिर के ऊपर ऐसा चढ़ता जा रहा है, कि ज्ञान को भी कहते हैं 'पेटेन्ट' करा लें कि उसी का वह ज्ञान माना जाये जिसने आविष्कार किया। हम लोग ऐसा नहीं मानते। ज्ञान सबके लाभ के लिये है, सभी उसका उपयोग करें। इसी तरह जिस विद्या का हम प्रतिपादन करते हैं उसका कोई प्रचार करें, हमारे ग्रंथ को प्रकाशित करें, हमारे विचारों का प्रचार करें तो हम लोग इसे ग़लत नहीं मानते जैसा आजकल मानने लगे हैं। हम वेद, स्मृति, पुराण, आचार्यों के ग्रंथ आदि से उद्धृत करते हुए कोई ग़लती कर रहे हों—ऐसा नहीं स्वीकारते जबकि आधुनिक मान्यता है कि किसी को उद्धृत भी उसकी अनुमति से करना चाहिये! जिनसे विचार प्राप्त हुए उनके प्रति कृतज्ञता तो हम मानते हैं लेकिन जिस-जिससे मिले हैं उस-उस प्रत्येक ग्रंथ-ग्रंथकार का हमें स्मरण रहे ही और उसका उल्लेख करें ही—ऐसा नियम निरर्थक समझते हैं। ज्ञान सबके काम की चीज़ है, किसी एक की निजी वस्तु नहीं। बटु निर्णय करता है कि 'मैं तपस्या से जीवन व्यतीत करते हुये स्वाध्याय में लगा रहूँगा' तो निरन्तर सबके उपकार की बात सोच रहा है। अतः उसकी श्रेष्ठता है।

वेदाध्ययन और तप के साथ ब्रह्मचारी का तीसरा धर्म है तत्त्व का निर्णय। तत्त्व शब्द हमारे यहाँ पारिभाषिक है। सबसे प्रसिद्ध **'तत्त्व'** का प्रयोग श्वेतकेतु के प्रति उसके पिता ने किया

है 'तत्त्वम् असि'। तत् पदार्थ का मतलब होता है ईश्वर। त्वं पदार्थ जब कहते हैं तब मतलब होता है जीव। और 'तत्त्वम्' का मतलब होता है कि ईश्वर और जीव का शुद्ध रूप एक ही है। जीवन के प्रारम्भ से ही जिसने उस परमेश्वर-भाव में अपने को लीन कर के अपने अहं को मिटाने का निर्णय कर लिया, उसकी श्रेष्ठता स्वभाव से है। इसीलिये ध्रुव पाँच वर्ष की अवस्था में ही निकल गये परमात्म-प्राप्ति के लिये। प्रह्लाद सात वर्ष की उम्र में परमात्म-प्राप्ति के मार्ग में लग गया। अक्षर उसको 'क' पढ़ाया जाता था तो 'क' से उसको कृष्ण ही याद आता था। ऐसे हमारे यहाँ छोटे बच्चों को 'ग' से गणेश याद आता था। अब कानून कर दिया गया 'ग' से गणेश याद मत करो, 'ग' से गधा याद करो, नहीं तो तुम सेक्यूलर नहीं रह जाओगे। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु था; यों धर्मविरोध करना कोई नई बात नहीं है, सब पुरानी बातें हैं। उसने भी कहा 'क' से कृष्ण नहीं पढ़ाना इसको, इसको विष्णु याद नहीं आना चाहिये। उसके भी अध्यापक कहते थे 'क से कृष्ण मत बोल', तो वह कहता था 'क मतलब तो कृष्ण ही होता है, और कुछ होता नहीं है।' ज्ञानसम्बन्धर् तीन वर्ष की आयु में ही भगवान् शंकर की आराधना करने लगा, मार्कण्डेय पाँच वर्ष की उम्र में लग गया। अत्यन्त ही कम उम्र में ये लोग लग गये अतः बड़ी जल्दी ही इन्होंने सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं।

थर्मामीटर में बंद है या बोतल में बंद है, तो पारा कहीं भी लाओ-ले जाओ, कुछ नहीं होता। परन्तु एक बार पारा बिखर जाये ज़मीन के ऊपर तब उसको बटोरने की कोशिश करना; कितना भी बटोरोगे तो पूरा बटोरने में आयेगा नहीं! चित्त भी इसी प्रकार से पारा-सा है। बचपन में अभी तुम्हारा चित्त इधर-उधर फैला नहीं है। अतः उस समय यदि परमात्मा में लगता है तो वह पूरा-का-पूरा लग जाता है। एक बार जब चित्त बिखर

जाता है, अनेक चीजों में चला जाता है—पुत्र में चला गया, पत्नी में चला गया, धन में चला गया, जायदाद में चला गया—तो बिखर गया तब उसको वापस बटोर कर इकट्ठा करते हो, तो कितना भी प्रयत्न कर लो, कुछ-न-कुछ संस्कार इधर-उधर के बच ही जाते हैं। इसीलिये यदि जीवन के आदि काल में ही, बटुकाल में ही तुमको मौका मिल जाये तो उसका पूर्ण प्रयोग कर लेना चाहिये। अवस्था तो जैसी ब्रह्मचर्य वैसी गार्हस्थ्यादि, लेकिन ब्रह्मचारी जितनी निर्विषयता प्राप्त कर सकता है, उतनी अन्य नहीं।

हृदय को कमल क्यों कहते हैं? हृदय अर्थात् मन। प्रायः तो लोग समझते हैं कि मन चिपक जाता है चीज़ों से, पर शास्त्र बार-बार हृदय को कमल कहते हैं। क्यों कहते हैं? सच्ची बात यह है कि तुम बिलकुल कमल की तरह हो, तुम्हारे से कहीं कोई चीज़ चिपटने वाली नहीं है! चाहे जितना तुम चिपटने का नाटक कर लो, लेकिन रहते बिना चिपटे ही हो। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है '**असंगो ह्ययं पुरुषः**' यह पुरुष, जीव हमेशा ही असंग है। हमारे पिताजी बहुत कहते थे 'तुम से बड़ा प्रेम है', मरकर जाने के बाद से पन्द्रह पैसे का पोस्टकार्ड भी नहीं भेजा कि 'तुम कैसे हो?' हम भी किसी बेटे से कहते रहे होंगे 'तुमसे बड़ा प्रेम है' पर वहाँ से यहाँ आ गये तो कभी याद नहीं करते। सभी लोग किसी को छोड़कर आये हैं, कभी उनकी याद करते हो, कभी ख्याल करते हो कि 'अरे वहाँ उस लड़की की शादी नहीं हुई थी, ज़रा पता लगा लो शादी हुई, कि नहीं हुई।' यहाँ लड़की की शादी नहीं होती है तो कहते हैं 'महाराज! बिलकुल भगवान् के चरणों में जाना चाहते हैं, बस यह लड़की का बन्धन है। इसके हाथ पीले हो जायें तो फिर काम हो जाये। हमारे मन में कोई इच्छा नहीं है।' कोई पच्चीस साल का हो गया, कोई चालीस साल का हो गया है, कभी विचार करते हो कि 'पूर्व जन्म में जो लड़की कुँवारी रह गयी थी उस

लड़की के हाथ पीले हुये कि नहीं हुये, शादी हुई कि नहीं हुई बेचारी की?' सौ साल की आसक्ति का नाटक दिखा कर चले जाओगे, असंग हो अतः असंग ही रहोगे। हमारा हृदय वस्तुतः असंग ही रहता है, इसीलिये इसको '**हृत्पद्म**' कहते हैं।

साधना से इसकी असंगता को व्यक्त करना है। है तो यह असंग, लेकिन इसकी असंगता को व्यक्त करना है, प्रकट करना है। अभी इसकी असंगता है जबरन। मर गये, इसीलिये तुमको पता नहीं, अतः असंग हो। हो तो असंग ही, लेकिन जबरदस्ती से। अब विचारपूर्वक सब चीज़ों को देखते हुये उसी असंगता को याद रखना है। हम एक सीधा उपाय लोगों को बतलाते हैं : कम से कम पाँच मिनट, दो मिनट ही सही, सोचो कि तुमको लोगों ने जाकर के निगमबोध घाट के अन्दर चिता पर लेटा दिया है, छाती के ऊपर भी लक्कड़ रख दिये हैं और तुम्हारे मुख में अग्नि डालने के लिये पुत्र तैयारी कर रहा है, मंत्र बोले जा रहे हैं, तुम वहाँ पड़े हुये हो। उस स्थिति में सोचो, तुम्हारा कौन है और कौन नहीं है, क्या है और क्या नहीं है? प्रतिदिन यदि तुम दो मिनट भी इस बात को सोचने लगो तो देखोगे, धीरे-धीरे असंगता, विचार की असंगता आ जायेगी। फिर तुमको मरने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी अपनी असंगता को समझने के लिये, यहीं वह असंगता प्रकट हो जायेगी। इसीलिये कहते है हमेशा ही यह हृदय ऐसा, रहता है। अच्छे से अच्छा आदमी मर जाता है, पति मर जाता है, पिता मर जाता है; जितना दुःख पहले महीने में रहता है उतना दुःख क्या साल भर के बाद रहता है? पाँच साल के बाद रहता है? हम उनकी बात नहीं कर रहे हैं जो वेदांत-विचार करते हैं। बिलकुल घोर संसारी, जिनको कोई मतलब नहीं है विचार से, उनका भी वह दुःख समय के अनुसार जैसे धुलता जाता है। क्यों धुलता जाता है, किस साबुन से धुलता रहा है? कोई विचार नहीं कर रहा है, वह विवेक नहीं कर रहा है। जैसे

तुमने गरम पानी चूल्हे से उतार कर नीचे रखा, कोई तुमको हवा करने की ज़रूरत नहीं, उसके पास बर्फ़ लाने की ज़रूरत नहीं है, धीरे-धीरे ठंडा होता जाता है, क्योंकि जल का स्वभाव गरम होना नहीं है। इसी प्रकार दुःख हमारे सामने आया, कारण उपस्थित हुआ, दुःखी हो गये। पर जैसे वह मर गया, बात ख़त्म हो गई तो वह दुःख धीरे-धीरे अपने आप कम होता जाता है, जो तीव्रता थी वह कम हो जाती है। स्वभाव से तुम असंग हो। विचार के द्वारा, साधना के द्वारा, विवेक के द्वारा इसको शीघ्र व्यक्त किया जा सकता है।

कितना शीघ्र व्यक्त हो सकता है? ईसाईयों का एक सम्प्रदाय है जो इगनेशस लॉयला ने शुरू किया था जिनके शिष्य थे सेण्ट फ्रांसिस ज़ेवियर। लॉयला ने सम्प्रदाय-स्थापना की तथा अनेक संस्थाएँ बनायीं। एक कार्डिनल का लॉयला से विरोध था, वही पोप बना। किसी ने लॉयला से पूछा 'यह आपकी संस्थाओं को नष्ट करेगा?' उन्होंने कहा 'मुझे तीन दिन तक ही दुःख रहेगा, फिर सब बराबर हो जायेगा।' अर्थात् इतनी ही देर तक मेरी आसक्ति रह सकेगी, मैं जानता हूँ कि ये सब गतिविधियाँ वास्तविक हैं नहीं। ईसाईयों में लॉयला की उपलब्धि को अतिमहत्त्वपूर्ण माना गया है कि वे कितने असंग थे। पर वैदिक दृष्टि से वे आसक्त ही थे क्योंकि हमारा आदर्श है कि पलक झपकने में जितना समय लगता है उससे आधा समय भी ब्रह्माकार वृत्ति के बिना न रहे! प्रतिक्षण संसार का बाध होकर असंग ब्रह्मरूपता में प्रतिष्ठा बनी रहनी चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि, सनकादि, शुकादि इसी तरह ब्रह्मनिष्ठ रहते हैं। जब हृदय कमल ऐसा संगरहित हो जाये तब वह 'भवदधीनम्' भगवान् के अधीन हो सकेगा। संसार की आसक्ति रहते भगवान् की ओर ले तो जाओगे लेकिन फिर लौटाकर संसार में लगा दोगे, उनके अधीन नहीं करोगे। अधीनता का लक्षण क्या? 'शंभो त्वं तदीयो भवसि' भगवान् उसके हो जाते हैं अर्थात्

सच्चिदानन्द उसका स्वरूप हो जाता है। जीवभाव निवृत्त हो जाता है। आसक्ति से ही हम शम्भु से अलग हैं।

हृदय-कमल भगवान् के चरणकमलों के अधीन हो यह आवश्यक है। पूर्व श्लोक में प्राथमिक अवस्था कही थी जिसमें परमात्म-स्मरण से आनंद आता है, उसके विहार में आसक्त रहता है किन्तु संसार के आनन्द भी बने तो रहते हैं। जप, ध्यान, पूजादि में आनंद आता है लेकिन धन में, पकौड़ों में भी आनन्द आता है। सुख का नियम है कि अभ्यास करने पर ही उसमें रमण होता है। पहले-पहल तो जप आदि में सुख भी नहीं आता पर जब अभ्यास हो जाता है तब आनन्द आता है। यह भक्ति का प्रारम्भ है। किन्तु अभी संसार में भी सुख दीखता है। फिर भी संसार-सुख से परमात्म-सुख विशेष तो प्रतीत होता है, अतः उसे पूर्व श्लोक में 'परमानंद' कहा था। इससे आगे बढ़ने पर हृदय आपके अधीन हो गया अर्थात् बिना आपके कोई चीज़ अच्छी लगती नहीं। परमात्मा के बिना दूसरी चीज़ों में अब आनन्द रहता नहीं। बहुत से लोग कहते हैं, 'यदि दुनिया में सुख तुमको मिल रहा है तो अभी तुमको भगवान् से प्रेम कहाँ हुआ!' किन्तु ऐसी बात नहीं है। **'न निर्विण्णो नातिसक्तः भक्तियोगोस्य सिद्धिदः'** शास्त्रकारों ने कहा है कि इतना वैराग्य उसको नहीं हो गया है कि संसार की उसको कोई चीज़ अच्छी ही नहीं लगे परन्तु संसार के सुख में इतनी अधिक आसक्ति नहीं है कि परमात्मा के आनन्द को ले ही नहीं। इस मध्यम अवस्था के अन्दर भक्ति योग शुरू हो गया। परन्तु धीरे-धीरे परमात्मा का आनन्द बढ़ता जाता है और तब एक अवस्था ऐसी आती है कि विषयानन्द सामने आने पर भी उस आनन्द की तरफ प्रवृत्ति न होकर परमात्मा की तरफ ही प्रवृत्ति होती है। अभ्यासवश परमात्मा से प्रेम इतना बढ़ जाता है कि वह उन्हें छोड़ नहीं पाता। दूसरे कार्यों को करता है, परन्तु उनमें मन नहीं लगता। मन में रहता है कि 'यह

सांसारिक कार्य करके फिर कितनी जल्दी परमात्मा की तरफ जाऊँ।' ऐसी अवस्था के बिल्व मंगल ने कहा है कि **'हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते'** मुझे निर्बल समझकर आप मेरे से दूर जा रहे हैं। आप ज़्यादा बल वाले हैं, मैं कम बल वाला हूँ, मुझे निर्बल समझकर आप मुझसे दूर जा रहे हैं। परन्तु इतने से आप अपने को बड़ा भारी बल वाला मत समझ लेना। यदि आप अपने आपको मेरे हृदय से निकाल सकें तब तो गिनूँगा कि आप बड़े पौरुष वाले हैं। शरीर मेरा कमज़ोर है, वह बात दूसरी है। जब हृदय शिव के अधीन हो जाता है तब उस भक्त के हृदय में वह शिव सच्चिदानंद के रूप से प्रकट हो जाता है। **'तदीयं त्वं शंभो'** आप उसके हो जाते हैं, अर्थात् आप सच्चिदानंद हैं तथा उसका रूप सच्चिदानंद हो जाता है। यह हुआ किससे? अभ्यास से। जितना-जितना अपने सभी साधनों को हम परमेश्वर के उपयोग में लाते जायेंगे, उतना ही यह होगा।

इसी क्रम में 'बटु' से ब्रह्मचर्याश्रम बताकर अब दूसरा आश्रम बतलाया **'गेही'** गृहस्थी; गार्हस्थ्य भी आश्रम है। पहले आश्रम की साधना में तप, स्वाध्याय गिना था प्रधान साधान। हमारे यहाँ गृहस्थ को ही धन कमाने का अधिकार है। न ब्रह्मचारी को धन कमाने का अधिकार है, न वानप्रस्थ को है, न संन्यासी को। गृहस्थ को ही धन कमाने का अधिकार है। अतः सभी लोग गृहस्थ के आश्रित हैं। सबके रक्षण के लिये अपने धन का उपयोग करना—यह गृहस्थ का प्रधान कार्य है। उपनिषद् इसलिये गृहस्थ को कहती है **'अन्नं बहु कुर्वीत'**; तैत्तिरीय उपनिषद् में आता है कि गृहस्थ को चाहिये कि अपने घर में खूब अन्न रखे, क्योंकि अन्न होगा तभी दूसरों को देगा। अन्न का मतलब खाली गेहूँ ही नहीं समझ लेना, जो भी भोग-सामग्री है वह सब हमारे यहाँ अन्न शब्द से कही जाती है। एक सप्तान्न ब्राह्मण है, बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्दर; उसके अन्दर बताया है कि देवताओं का अन्न

क्या है—हुत-प्रहुत। मनुष्यों का अन्न क्या है, पशुओं का अन्न क्या है, मन का अन्न क्या है—इत्यादि वहाँ विस्तार है। जो भी ग्रहण किया जाता है, वह सब अन्न कहा जाता है। श्रुति कहती है, जिस-किसी उपाय से अन्न बढ़ाओ पर इसीलिये नहीं कि 'मैं भोग करूँगा', वरन् सबकी सेवा के लिये। गृहस्थ के लिये प्रधान साधन दान माना। जो परमात्मा का चिन्तन करने वाला होगा, उसके दान का रूप यह नहीं है कि 'मैं दाता हूँ और मैं इसको दे रहा हूँ'; वह तो यह मानता है कि जो आया है वह साक्षात् नारायण ही आया है, अतः नारायण की सेवा कर रहा हूँ। मेरे पास है और मैं इसको दे रहा हूँ—यह नहीं है, वरन् यह कि नारायण की सेवा कर रहा हूँ। हम लोग ऐसा मानते हैं कि जो जिसकी भक्ति करता है वह उसका स्वरूप है। अतः भक्त के स्वरूप में भी कोई आ जाये तो उसके ऊपर यह संदेह करना कि भक्त है या नहीं—यह हमारा काम नहीं हैं!

एक राजा था, उसके किसी नौकर ने चोरी की, उसको निकाल दिया। राजा का नियम था कि प्रातः काल जितने भी भक्त लोग आते थे सबका पूजन करके सबको भोजन कराता था। उस नौकर को निकाले सात आठ साल हो गये। एक दिन वह भक्तों की पंक्ति में खड़ा हो गया। रानी प्रत्येक के पैर धुला रही थी, राजा पैर धो रहा था, पूजन कर रहा था और फिर इन लोगों को बैठाते जा रहे थे भोजन करने के लिये। जब वह आया सामने, तब रानी ने पहचान लिया। रानी ने राजा के कान में धीरे से कहा—'यह वही चोर नौकर है।' राजा ने रानी के हाथ से सोने की पानी की झारी माँग ली, लेकर अपने एक हाथ से पानी डाला, उसके पैर धो दिये, भोजन कराने चला गया। जब सब कुछ हो गया, सब लोग चले गये उसके बाद राजा रानी अकेले थे। तब रानी ने कहा 'मैंने जो कहा वह आपने सुना नहीं, आपने झारी मेरे हाथ से क्यों ले ली? आपने पहचाना नहीं, वह

तो चोर था।' राजा ने कहा 'मैंने तेरी बात सुन ली थी और तेरे कहने के पहले भी उसका चेहरा मेरे को पहचान में आ गया था! परन्तु तूने कहा इस भाव से था कि वह चोर है अतः उसको इस प्रकार से आदर से खिलाना नहीं है, यही तेरा मतलब था। इसीलिये मैंने झारी तेरे हाथ से ली। तू पानी डालती तो सद्भाव से नहीं डालती। अगर मैं कह भी देता कि कोई बात नहीं, तो तू पानी तो डालती, मगर आदर के भाव से नहीं डालती। इसीलिये मैंने पानी ले लिया। वह क्या *था,* उससे मुझे क्या मतलब! इस समय वह जिस रूप में आया है, उसी रूप से हमको मतलब है। इस समय तो भक्त है, पहले क्या रहा, उससे क्या आता-जाता है?' जब हम नारायण-दृष्टि से सेवा करते हैं तो हमारी सारी दृष्टि बदल जाती है। संसार में सब समय कोई अच्छा रहे, यह संभव हम लोगों के अन्दर नहीं है। किसी-न-किसी समय में हम सब, कुछ-न-कुछ बुरे हो ही जाते हैं। अगर हम कहें कि हम ऐसे को पूज्य मानेंगे जो सब समय अच्छा रहा हो, तो कोई मिलने वाला नहीं! अतः यह विचार करना कि यह क्या था—व्यर्थ हो जाता है। इस समय जिस रूप में आया है, उसी रूप में उसको ग्रहण करना है। जीवन के अन्दर यदि इस चीज़ को हम ले आते हैं तो हमारे अधिकतर राग-द्वेष शिथिल हो जाते हैं। हम लोग तो गाँठों को बाँध-बाँध कर गुत्थियाँ बनाते रहते हैं और अंत में उन गुत्थियों में खुद ही फँस जाते हैं। गुत्थियाँ बनाते समय तो हम सोचते हैं कि इससे हमारा व्यवहार अच्छा रहेगा और हम दुःख से बचेंगे। बनाते तो इसलिये हैं, परन्तु वे गुत्थियाँ हमको इतना उलझा देती हैं कि हमको सब समय दुःखी करने की उनकी सामर्थ्य हो जाती है।

अतः गृहस्थ के लिये जिस समय जिसके साथ व्यवहार करना है उस समय उसमें परमेश्वर-दृष्टि रखना ही उचित है। परमेश्वर ही सब रूपों को धारण करके आया है। हम उसके

साथ व्यवहार कर रहे हैं। वह हमारा क्या नुकसान करेगा—इसको न सोचकर, उसकी जगह यह सोचो कि 'मैं इसके बारे में अगर ग़लत विचार ले आऊँगा तो मैं अपना कितना बड़ा नुकसान करूँगा।' ऐसा जो 'गेही' है उसका हृदय आपके आधीन है अर्थात् जिससे व्यवहार करता है उसमें वह हमेशा नारायण-दृष्टि ही करता है, तब उसका हृदय आपके आधीन है, परमेश्वर के आधीन है।

'जटी' वानप्रस्थी; वह परमात्मा के लिये ही अन्य कार्यों को छोड़कर तप में लगा हुआ है, अतः उसका चित्त तो **'भवदधीनं'** है ही। और **'यतिः'** संन्यासी भी निरन्तर अन्य सब जगह से निवृत्त ही रहता है। सिवाय परमात्मा के श्रवण और श्रावण के उसका कोई दूसरा कर्म है ही नहीं। अतः उसका हृदय भी **'भवदधीनं'** है ही। फ़र्क केवल इतना है कि वानप्रस्थी सब कुछ छोड़ कर परमात्मा के अधीन अपने मन को रख रहा है और यति का मन परमात्मा को छोड़ कर अन्यत्र कहीं क्षणमात्र को जाता ही नहीं। चारों आश्रमी अपना हृदय शिवाधीन करें यह बताया।

लेकिन हरेक आदमी तो आश्रम में नहीं है। अनाश्रमी भी बहुत से हैं। वर्तमान काल में तो अधिकतर अनाश्रमी हैं! जैसे वर्तमान काल में वर्ण का निर्णय नहीं, वैसे ही वर्तमान काल में आश्रम का भी निर्णय नहीं है। सब काम साथ ही साथ चलते हैं। उन सबका ग्रहण, अनाश्रमियों का ग्रहण कर लिया **'तदितरः'** से। आश्रमों से भिन्न, किसी भी आश्रम में न होने वाला भी अपने हृदय को तो परमात्मा को दे ही सकता है। यह ठीक है कि ब्रह्मसूत्रों में व्यास जी ने विचार किया कि परमेश्वर का भजन करने का, परमेश्वर के ज्ञान का अधिकार सबको है, परन्तु इतना फ़र्क है कि जो आश्रम में रहकर करता है उसको परमात्मा की

सिद्धि जल्दी होती है, जो किसी प्रकार के आश्रमों में नहीं रहता है उसको देरी से होती है। होती दोनों को है, क्योंकि परमात्मा तो सब जगह एक जैसा है और उसमें लगने वाला मन भी एक जैसा है। साधन-विशेष से जल्दी या देरी हो सकती है। जैसे तुम्हारे पास यदि डीजल की मोटर है तो थोड़ा-सा स्टार्ट करके पिकअप करने में देरी लगती है, पेट्रोल की मोटर है तो ज़रा जल्दी स्टार्ट होकर के जल्दी पिकअप कर लेती है, यह फ़र्क तो है, परन्तु चलेगी तो दोनों ही, पहुँचायेंगी दोनों ही। इसलिये कह दिया **'तदितरः'**। आश्रम वाले हों या अनाश्रमी, होंगे नर ही, मनुष्य ही। इसलिये कहा **'यः कश्चिद् भवतु'**। जो अनाश्रमी हैं परन्तु सामान्य नियमों में रहने वाले हैं, ऐसे भी हृदय शिवार्पण करते हैं, लेकिन परमात्मा की भक्ति करने वाले डकैत भी हुये हैं, परमात्मा की भक्ति करने वाले कसाई भी हुये हैं! जिनको किसी भी दृष्टि से कोई कहेगा कि 'अरे, इनका चित्त तो कभी शिवार्पण हो ही नहीं सकता' वे भी भक्त होते देखे गये हैं।

एक वेश्या थी। एक बार उधर से कोई ऋषि निकले। वेश्या ने उनसे प्रार्थना की 'जी, परम्परा से हम लोगों के घरों में तो केवल यह वेश्या का ही काम होता है, मैं चाहती हूँ कि परमात्मा की प्राप्ति मुझे हो, मेरे लिये भी कोई साधन हैं?' ऋषि ने विचार करके कहा 'हाँ, तेरे लिये भी साधन हो सकता है। परमात्मा की प्राप्ति का साधन तो सबके लिये होता है।' यही अपने सनातन धर्म की विशेषता है। उसने पूछा 'मैं क्या साधन करूँ, मुझे तो यह पाप कर्म करना है?' उन्होंने कहा 'तुम यह नियम लेकर चलो कि जो प्रथम व्यक्ति आयेगा, सुन्दर हो, कुरूप हो, धनी हो, गरीब हो, कोई हो जो प्रथम व्यक्ति आये, उसे उस रात भरके लिये अपना पति मानकर सारी सेवा करना। उस रात तक वह नारायण-रूप तुम्हारा पति है। इस नियम से चलोगी तो तुम्हारा

कल्याण हो जायेगा।' उसने वह नियम ले लिया। कुछ लोगों ने टोका भी पर वह दृढता से इसका पालन करती रहे। अनेक वर्ष बीत गये। भगवान् ने 'परीक्षा के बहाने नियम की महत्ता प्रकाशित करने के लिये लीला की : एक अत्यंत दुर्बल वृद्ध जिसके शरीर पर भी दुर्गंध-युक्त फोड़े थे, लाठी टेकता सबसे पहले उस वेश्या के घर पहुँचा। उसने स्वागत किया, दासियों से कहकर स्नान कराने की कोशिश की पर दुर्गन्ध के कारण वे हिम्मत न कर पायीं तो वेश्या ने स्वयं फोड़े साफ़ किये, स्नान कराया, दवा लगायी, तेल-फुलेल लगाया, भोजन कराया, बिस्तर पर लेटाया। तभी बुड्ढे ने उलटी कर दी, उसे कै हो गयी। वेश्या पर भी वह पड़ी। निर्विकार मन से जाकर नहाकर लौट आयी, उसके पैर दबाने लगी तभी बुड्ढे को टट्टी बिस्तर पर ही निकल गयी! वेश्या ने वह सब भी साफ किया, बिछौना बदला। तब तक सुबह के तीन बजे और बुड्ढे ने दो-चार बार खाँसकर शरीर ही छोड़ दिया, मर गया। वेश्या ने दासियों को बुलाकर कहा 'अर्थी तैयार करो और लोगों को खबर करो कि मैं इसके साथ सती हो जाऊँगी!' दासियों ने अड़ोसी-पड़ोसियों से कहा, उन्होंने सोचा वेश्या का दिमाग खराब हो गया है! वेश्या कैसे सती होगी! उससे आकर पूछा। उसने कहा 'मेरा नियम है कि पहला व्यक्ति रात भर के लिये मेरा पति होता है। अभी रात बाकी है और यह मर गया अतः पति रहते हुए ही मरा है इसलिये मुझे सती होना है। बहुत लोगों ने समझाया कि 'आज तक के इतिहास में कहीं नहीं है कि वेश्या सती हो।' पर वह नहीं मानी। वह अर्थी सहित चिता पर गयी उसे अपनी गोद में लेकर के कहा 'आग लगाओ।' जब धूँ-धूँ करके ज़ोर से आग जलने लगी और वह शांत बैठी रही, तब वह जो बूढ़ा था वह शंख, चक्र, पद्म, गदाधारी विष्णु भगवान् प्रकट हो गये! कहने लगे 'तेरे नियम से मैं पूरा प्रसन्न

हो गया, जो वरदान तू चाहे माँग ले।' उसने कहा 'आप मेरी गोद में हो इससे आगे क्या चीज़ हो सकती है। हमेशा आप मेरी गोद में ही रहें।' भगवान् ने कहा 'मनुष्य शरीर में तो यह सम्भव नहीं है, परन्तु तुमको वरदान भी देना है : तू गण्डकी नदी बन जायेगी और मैं शालिग्राम रूप से हमेशा गण्डकी नदी में ही, उसकी ही गोद में मिलूँगा।' आज तक गण्डकी में ही शालिग्राम मिलते हैं।

अतः **'यः कश्चिद् भवतु'** व्याध, वेश्या, कसाई इत्यादि जो अत्यन्त गये-बीते माने जाते हैं, जिनको लोग समझते हैं कि ये तो कभी किसी योग्य हो ही नहीं सकते, वे भी अपना हृदय भगवान् के अर्पण करें तो भगवान् उनके हो जाते हैं। परन्तु **'यदि भवदधीनं हृत्पद्मं'** यदि आपके अधीन उसका हृदय कमल है तो आपका सच्चिदानंद रूप उसके अन्दर अवश्य ही प्रकट हो जाता है। इतना ही नहीं, कहते हैं **'भवभारं च वहसि'** उसने जब अपना मन आपको दे दिया तो अब उसके सारे संसार का निर्वाह कौन करेगा? उसके भव का अर्थात् उसका जो भी संसार है, चाहे वह गृहस्थ है, उसका सारा भार आप खुद पर ही ढोते हैं। **'वहसि'** ढोते हैं; ढुलवाते हैं–नहीं कहा है, किसी दूसरे से करवाते हैं–ऐसा नहीं कहा है। गीता में भी भगवान् ने यह कहा है **'योगक्षेमं वहाम्यहं'** उसके योग-क्षेम का, उसके सारे भार का मैं वहन करता हूँ, मैं ढोकर करता हूँ, किसी दूसरे से नहीं करवाता हूँ। चाहे किसी जगह पर तुम उत्पन्न हुये हो, चाहे किसी भी प्रकार का जीवन तुमने चुना है, यदि अपना मन उनको दे सकते हो तो तुम्हारा काम हो गया।।११।।

(१२)

किसी भी परिस्थिति में जन्म लिया हो और किसी भी प्रकार के जीवन की प्रणाली को चुना हो, क्योंकि परमात्मा सर्वत्र मौजूद है और जीव होने के नाते हमारे पास मन भी है इसलिये हम परमात्म-उपासना करने और परमात्मज्ञान पाने में सक्षम ही रहते हैं। यह ठीक है कि कुछ परिस्थितियाँ, कुछ जीवन-प्रणालियाँ, सहायक होती हैं जिनमें कम परिश्रम से भी काम ज़्यादा हो जाता है। लेकिन अन्य परिस्थिति आदि में भी अवसर तो रहता ही है। देश और काल भी भजन में रुकावट नहीं कर सकता, इसको बतलाते हैं–

गुहायां गेहे वा बहिरपि वने वाऽद्रिशिखरे,
जले वा वह्नौ वा वसतु वसतेः किं वद फलम् ।
सदा यस्यैवान्तःकरणमपि शंभो तव पदे,
स्थितं चेद्योगोऽसौ स च परमयोगी स च सुखी ।।१२।।

'गुहायां' पर्वत की कन्दरा तपस्या के लिये बड़ा अनुकूल स्थल है। जो कोई किसी चीज़ को बनाता है, वह उसमें अपने स्पन्दों को छोड़ता है। ऐसा मत समझो कि बनाने वाले का बनायी हुई वस्तु पर कोई प्रभाव नहीं है। यह ठीक है कि हमको जल्दी पता न लगे कि उसका क्या प्रभाव है, परन्तु प्रभाव पड़ता अवश्य है। अतः प्राचीन काल में जो स्थपति होते थे, मूर्तिकार होते थे, मूर्तियों को बनाते काल में उनके लिये नियमों का विधान था। ज़मीन पर सोना, मूर्ति निर्माण कार्य करके शाम को एक बार भोजन करना, ब्रह्मचर्य से रहना, उस देवता का इतना मंत्र-जप करना इत्यादि नियमों के साथ वे मूर्तियों का निर्माण करते थे। फिर मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा कौन करे आदि सब बातों का विचार

होता था इसलिये मूर्तियों के अन्दर दिव्यता प्रतिष्ठित होती थी। अब कोई भी मूर्ति बना सकता है, कोई रुकावट नहीं। पुराने लोगों को याद होगा कि हलवाई की परम्परा वाला ही हलवाई की दुकान खोल सकता था, जिसकी मर्ज़ी हो वह दुकान नहीं खोल सकता था। उस हलवाई के यहाँ जो चीज़ें बन सकती थीं वे ही बनेंगी, चाहे जो चीज़ नहीं बनेगी। उसको पैसा दिया जाता था तो वह हाथ में नहीं लेता था, लकड़ी के बर्तन में पानी भरा होता था, उसमें पैसा डालना पड़ता था जिससे भोजन की चीज़ में स्पर्शा-स्पर्श न आवे। जो उस परम्परा का नहीं है, उसके मन में इन रीतियों के प्रति कोई सद्भाव नहीं है, इन नियमों का उसको ज्ञान भी नहीं है, अतः एक दोने में एक आदमी कचौड़ी लेकर खा रहा है, दूसरी कचौड़ी उसी हाथ में वह हलवाई अपने हाथ से रख देता है और उसी हाथ को बिना धोये हुये फिर कचौड़ी दूसरों को दे देता है! जूठ का उसे कोई विचार ही नहीं। धीरे-धीरे यह पता आधुनिक चिकित्सकों को लगने लगा है कि जो आजकल उठाओ, खाओ खाना चला है, 'बुफे', उसमें सबके हाथ लगते हैं जिसके कारण कितने प्रकार के पेट के रोगों का प्रसार हो रहा है। लेकिन पता चलकर भी होना क्या है! अखबारों में दो-चार लेख निकल आयेंगे। ग्यारह बजे कॉफी पीने के समय औरतें बैठ कर इसके बारे में बोलेंगी और फिर शाम 'बुफे' ही खिलायेंगी 'बुफे' ही खायेंगी! अब हमारी जीवन-पद्धति यह है कि हम क्या विचार करते हैं और क्या करने जाते हैं—इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः रोग बढ़ते रहेंगे। अच्छा ही है, चिकित्सकों को तो लाभ ही होगा! पहले इतनी सावधानी रखते थे, क्योंकि जो बनायेगा उसके ऊपर उसकी छाप रहेगी चाहे मूर्ति बनाये या भोजन बनाये।

घर बनता है, मकान बनता है तो तरह-तरह के लोग मिलकर बनाते हैं। अतः उन लोगों का असर घर की सारी चीज़ों

पर रहना ही है। गुफा को कोई कारीगर नहीं बनाता, स्वयं परमेश्वर ही गुफाओं को बनाने वाला है। आधुनिक भूगर्भशास्त्र की दृष्टि से देखो तो हवा के थपेड़े, जिनके अन्दर बालू के कण होते हैं उनकी मार और वर्षा होने वाले जल की धारा के द्वारा गुफाओं का निर्माण होता हैं। न वर्षा के जल में परमेश्वर के सिवाय किसी का हाथ है, न हवा के थपेड़ों में, और न उड़ने वाले धूल के कणों में। गुफाएँ कैसे बनती हैं—इसको भूगर्भशास्त्र की दृष्टि से देखो तब भी बनाने वाले परमेश्वर ही सिद्ध होते हैं और सामान्य दृष्टि से देखो तो गुफा कोई आदमी बना नहीं रहा है, पशु भी नहीं बना रहा है। इसीलिये साधक गुफाओं में जाकर रहते हैं। वर्तमान काल में हमारी सरकार अपने को परमेश्वर-रूप समझती है! आबू में अनेक गुफाएँ थी जहाँ महात्मा लोग रहते थे। अब सरकार ने कहा 'ये किसी की नहीं, ये सब हमारी हैं। गुफा में वही रह सकता है जो कलेक्टर से परमीशन ले गुफा में रहने की।' कैसे क्लेक्टर साहब या सरकार मालिक बन गई, यह भगवान् जाने। तो पुराने ज़माने में गुहा का न कोई मालिक था, न बनाने वाला था। अतः सारे सम्बन्धों से रहित उस गुहा में रहने को हम लोग परमात्म-प्राप्ति के मार्ग में चलने वाले के लिये बहुत अच्छी जगह समझते थे।

सब के लिये वह सुलभ नहीं है, अतः अगली चीज़ कही ठीक उससे उलटी **'गेहे'** चाहे हमें घर ही रहने के लिये मिले। यह ठीक है कि स्थान से कुछ अधिक सहायता मिलेगी। जैसे आश्रमादि धर्मों के अनुसार चलने वाला कुछ जल्दी प्रगति करता है, परन्तु पहुँच तो सब सकते हैं। इसी तरह गुहा में रहने वाले के लिये अत्यन्त सुविधाजनक हो सकता है, घर में रहने वाले के लिये उतना सुविधाजनक नहीं हो सकता है, परन्तु फिर भी घर में रहने वाला भी परमात्म-प्राप्ति कर सकता ही है। आगे

शब्द आया है '**बहिः**' बाहर। बाहर के अन्दर गिना है वन, पहाड़ का शिखर, जल और अग्नि। इसका मतलब कि इन सबको 'बाहर' कह रहे हैं। अतः गुहायां गेहे में किसी अन्दर की चीज़ को भी कह रहे हैं। वेदादि सच्छास्त्रों में गुहा शब्द का प्रयोग प्रायः करके हृदय गुहा के लिये होता है, तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा है '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्**' सत्य-ज्ञान-अनन्त-रूप जो ब्रह्म है उसका अपने गुहा में अर्थात् हृदय गुहा के अन्दर दर्शन करता है, जानता है, साक्षात्कार करता है। '**गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं**' इत्यादि अनेक स्थलों में गुहा शब्द का प्रयोग हृदय गुहा के लिये है। जैसे बाहर की गुहा होती है वैसे यह अन्दर की गुहा है। जैसे उस बाहर की गुहा को किसी ने नहीं बनाया, वैसे ही इस अन्दर की गुहा का निर्माण भी सृष्टि के आदि में जब हमारा सूक्ष्म देह परमात्मा ने बनाया, तभी हुआ। इस सूक्ष्म देह को सिवाय परमेश्वर के और कोई नहीं बनाता है। अतः हम उसका ध्यान अपने अन्दर करना चाहें तो हृदय गुहा में करें।

'**तव पदे अन्तःकरणम् अपि स्थितम्**'। मेरा मन, मेरा अन्तःकरण आपके पद में स्थित हो। आचार्य शंकर एक 'अपि' बीच में डाल देते हैं '**अन्तःकरणम् अपि स्थितं**' आपके चरणों में अन्तःकरण *भी* स्थित है, 'भी' का मतलब है कि कुछ और भी स्थित है। परन्तु यहाँ 'भी' से क्या समझना यह कहा नहीं है। जैसे अन्तःकरण के साथ तुम्हारा तादात्म्य अभिमान है 'यह मैं हूँ', वैसे अन्तःकरण से लेकर शरीर पर्यन्त सब चीज़ों में तुम्हारा तादात्म्य अध्यास है कि, 'यह मैं हूँ'। अतः जिन जिन चीज़ों को तुम 'मैं' समझते हो वे सभी परमेश्वर के चरणों में स्थित होती हैं। आँख में हमको बुद्धि है 'यह मैं हूँ', अतः जब आँख देखती है तब हमारा अनुभव क्या है? 'मैं देख रहा हूँ।' वाणी बोलती

है तो हम क्या सोचते हैं? 'मैं बोल रहा हूँ', पैर चलता है तो हमारा अनुभव क्या है? 'मैं चल रहा हूँ', भूख लगती है प्राण को, भूख-प्यास प्राण का धर्म है। भूख लगती है तो हमको क्या लगता है? 'मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ', प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर—इन सब के अन्दर हमको 'मैं' की प्रतीति होती है। *प्रतीति* होती है—यह ठीक से समझना। अन्य चीज़ों को भी कई बार हम 'मैं' शब्द से *कह* ज़रूर देते हैं पर वहाँ मैं-प्रतीति नहीं होती। अपनी पत्नी को कहते हैं अर्धांगिनी। पर क्या वह अर्धांग है—ऐसा अनुभव होता है? पत्नी ने डट कर भोजन कर लिया, तुम ऑफिस में काम कर रहे हो, तो तुम्हारा आधा पेट भर जाता है क्या? प्रेम से तुम कहने को कुछ भी कह दो। लेकिन तुम्हारा पेट तुम्हारा पेट रहता है उसका पेट उसका पेट रहता है। इसी प्रकार पुत्र को कह देते हैं 'मेरी आँख का तारा है' परन्तु अपनी आँख फूट जाने के बाद उस तारे से सब काम चल जाता है क्या? ऐसा लगता है क्या कि मेरी आँख नहीं फूटी है। परन्तु अपनी आँख फूटने पर चाहे जितना भी कहो 'आँख अलग है, मैं अलग हूँ' लेकिन अंदर से आवाज़ क्या आती है? 'फिर भी, अंधा तो हो ही गया, मैं अंधा हो गया।' देह-पर्यन्त तादात्म्य अध्यास का, 'मैं' का हमको स्पष्ट अनुभव है। बाकी चीज़ों के अन्दर 'मैं' का प्रयोग करते हैं, परन्तु प्रयोग करते हुये भी जानते हैं कि 'हूँ तो मैं शरीर तक ही।' '**अन्तःकरणम् अपि**' के अपिकार से सभी उन उपाधियों को ग्रहण करना है जहाँ तादात्म्य होता है। शरीर पर्यन्त जिस-जिस चीज़ में तादात्म्य अध्यास है वे सभी चीज़ें आपके चरणों में स्थित हों। यह सब स्थित करने के लिये परमात्मा को साक्षी रूप से अपने हृदय में देख सकते हो। यह सबसे श्रेष्ठ स्थल है।

अगर '**गुहा**' में सीधे नहीं जा सकते तो '**गेहे**'; यह शरीर गेह है, शरीर घर है। इस शरीर रूपी घर के अन्दर ध्यान के

लिये विभिन्न स्थल बताये हैं, उनमें से किसी भी स्थल के अन्दर ध्यानादि किया जा सकता है। भ्रू-मध्य, सहस्रार, नाभि आदि भिन्न-भिन्न चक्रों का निरूपण है। चाहें तो उन चक्रों के अन्दर कहीं भी अपने आप को स्थिर करके परमात्मा की दृष्टि कर सकते हैं। उत्तम स्थल तो पहले कह ही दिया है, हृदय गुहा, क्योंकि हृदय में ही साक्षात् परमात्मा का दर्शन होता है। बाकी शरीर के अन्दर अन्य जगहों में किसी-न-किसी उपाधि से युक्त परमात्मा का दर्शन होगा, निरुपाधिक का नहीं होगा। लेकिन हृदय में ध्यान कठिन लगने पर बाकी सब जगह भी हो सकता है। हर हालत में कहीं भी ध्यान करो, अपना समग्र, अर्थात् शरीर से लेकर अन्तःकरण पर्यन्त सारा का सारा परमात्मा को ही अर्पित होना चाहिये। **'बहिरपि'** बाहर भी कर सकते हो। जो अन्दर न कर सके वह बाहर करें। 'वने' जंगल में आदमी भजन करने जाता है। वहाँ भी उसको चूँकि अन्य लोगों का सम्पर्क नहीं होता अतः सुविधा प्रतीत होती है। वैसे वन शब्द का अर्थ संस्कृत के अन्दर होता है **'वननीयम् सम्भजनीयं'**. केनोपनिषद् में आया है **'तस्य तद्वनम् इति नाम'** परमात्मा का एक नाम तद्वन है। परमात्मा को वन क्यों कहते हैं? वहाँ आचार्य शंकर लिखते हैं **'वननीयं सम्भजनीयम्'** वन धातु का अर्थ होता है भजन करना। वही एकमात्र भजन के योग्य है इसलिये उसको वन कहा जाता है। वन का मतलब केवल जंगल नहीं समझ लेना। ऐसा विजन स्थान जहाँ भजन हो सकता है वही वन कहा जाता है। अतः बाहर जो कहीं एकांत स्थल भजन के लायक होवे वहाँ भी भजन कर सकते हो। अथवा **'अद्रिशिखरे'** पहाड़ के शिखर पर। केदारनाथ, बद्रीनाथ आदि पहाड़ों के शिखरों पर अनेक तीर्थ हैं। वन में न रह सके तो अद्रिशिखर पर भी रह सकता है, पहाड़ के ऊपर भी रह सकता है। पर्वत के ऊपर विशेषता क्या है? विशेषकर जो प्राणायामादि योगों का अभ्यास करते हैं, उनके लिये

अद्रिशिखर ज़्यादा उपयुक्त पड़ता है क्योंकि वायु वहाँ किसी भी प्रकार के बाह्य प्रभावों से अधिक मुक्त होती है। जंगल की वायु भी शुद्ध होती है, परन्तु जंगल में होंगे पेड़। पेड़ों की वायु दिन के समय में तो शुद्ध रहती है पर रात्रि के समय पेड़ों की वायु में शुद्धि नहीं रहती। इसीलिये जानकार दिन के समय में तो फूल इत्यादि को कमरे के अन्दर लगा देते हैं परन्तु रात में हटाकर बाहर कर देते हैं। कभी अस्पताल गये होंगे तो देखा होगा, दिन में चाहे रखें, रात में हटा देंगे, क्योंकि रात में उनकी वायु शुद्ध नहीं रहती है। परन्तु पहाड़ों के ऊपर यह समस्या नहीं है। कई साधनाओं को जलों में किया जाता है, पानी में खड़े होकर जप करते हैं। चन्द्रग्रहण इत्यादि समय में जल में जाकर यदि जप करो तो उसका बहुत ज़्यादा फल होता है। परन्तु मारवाड़ में पैदा होगे तो तुमको कहाँ मिलना है जल जहाँ खड़े होकर करो। यह नहीं समझ लेना कि जल नहीं मिला तो जप ही नहीं करना है, मिले तो बहुत अच्छा है, पर उसके बिना भी जप तो कर ही सकते हो। **'वह्नौ वा'** पंचाग्नि तपस्या करते हैं; चारों तरफ आग जला लेते हैं जेठ के महीने में और ऊपर सूर्य चमकता है—इसको पंचाग्नि तप कहते हैं। यह नहीं समझ लेना कि माघ संक्रान्ति में ही पंचाग्नि तप कर लेंगे! तप भी हो जायेगा और ठंड भी नहीं लगेगी। ज्येष्ठ के महीने में पंचाग्नि तपना पड़ता है, माघ में नहीं। जैसे निर्जला एकादशी कब आती है? जेठ में आती है, ऐसा नहीं है कि भाद्रपद में आ जाये, माघ में आ जाय, इसी प्रकार पंचाग्नि का तप भी जेठ में करना पड़ेगा।

कई बार जबरदस्ती का पंचाग्नि का तप भी हो जाता है: किसी आदमी की ड्यूटी लग गई मद्रास में। वहाँ बारहों महीने गर्मी ही होनी है। कोई एक स्कैंडिनेवियन आया था यहाँ ओस्लो से और वह जिस कार्य के लिये वहाँ से भेजा गया था उसके लिये मद्रास में रहना पड़ा। उसने हमको एक पत्र में लिखा कि

'आप कहा करते थे कि हिन्दुस्थान में छह ऋतुएँ होती हैं, मुझे तो यहाँ तीन ही मिलीं—गर्म, ज़्यादा गर्म और असह्य गर्म! अन्य तो कोई मौसम मुझे यहाँ मिली नहीं।' ऐसी जगह तुम्हें काम मिला, तो अब यह नहीं कहो की 'जी यहाँ तो बड़ी गरमी लगती है, भजन कैसे हो?' बहुत से लोग तो दिल्ली में ही कहते हैं जेठ के महीने में कि 'शाम साढ़े चार के सत्संग में आया नहीं जाता क्योंकि गर्मी भीषण लगती है।' वह्नौ का मतलब केवल पंचाग्नि तप ही नहीं समझ लेना, अगर ऐसे गर्म इलाके में रहना पड़े तो वहाँ पर भी अन्तःकरण यदि तुम परमात्मा में रखो तो तुम्हारे लिये वहाँ पर रहने में भी कोई हर्ज़ा नहीं है। इसी प्रकार 'जले' का मतलब भी खाली जल मत समझ लेना, किसी की जहाजरानी में नौकरी लग गई, नौसेना में कोई भर्ती हो गया तो सब समय पानी में रहना पड़ेगा तब यह नहीं सोचे कि 'ड्यूटी ख़त्म हो जायेगी फिर हम जाकर भजन करेंगे, यहाँ तो जहाज बार-बार ऊपर-नीचे होता रहता है, शंकरजी को रखकर जब पानी चढ़ा रहे होते हैं तब पानी की लहर आती है तो शंकरजी लुढ़क जाते हैं इसलिये यहाँ भजन नहीं हो सकता।' पर मन नहीं लुढ़केगा! भले ही शंकरजी लुढ़क जायें। इसी प्रकार अद्रिशिखर में जबरदस्ती भी रहना पड़ता है। सियाचीन ग्लेशियर के अन्दर जिन जवानों की ड्यूटी लग जाती है, मिट्टी का तेल भी वहाँ बरफ की तरह जम जाता है। ऐसी भयंकर ठंड होती है। वहाँ से आकर कोई कहे 'महाराज, वहाँ तो स्नान ही नहीं कर सकते इसलिये हमने तो गायत्री जप ही छोड़ दिया' तो ग़लत किया। मन तो तुम्हारे पास था वह तो नहीं जम गया था। ऐसे देशों में रहना पड़ जाये तो भी रह जाओ, वहाँ रहने से क्या फल होना है!

दोनों तरह का अर्थ बतला दिया। उन जगहों के अन्दर तपस्या के लिये रहते हो परन्तु मन परमात्मा में नहीं लगा तो

'वद किम् फलं' वहाँ रहने से क्या फल हुआ? घोर जंगल में रह गये, ऊँचे पहाड़ पर रह गये, लेकिन मन परमात्मा में नहीं लगा तो क्या फल हुआ? क्या तुमको हो जायेगा फल? लोग समझ लेंगे कि बड़े सिद्ध महात्मा हैं पर फल तो कुछ नहीं होगा, परमात्म-प्राप्ति तो नहीं होगी। और दूसरा अर्थ है कि जबरदस्ती रहना पड़े तो वहाँ हम भजन नहीं कर सकते इसीलिये नहीं किया—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि मन तो लग ही सकता है। इसीलिये कहा चाहे इच्छा से चाहे बेइच्छा से, रहने का क्या फल है? अगर उन जगहों पर तुम गये हो तो इसलिये कि सुविधा मिले भजन करने की और अगर जबरदस्ती गये हो तब भी वहाँ रहने की चिंता करने से कुछ होना तो है नहीं, इसलिये रहने का कोई फल नहीं।

इन किसी भी परिस्थितियों में **'यस्य अन्तःकरणम् अपि तव पदे सदा स्थितं'** जिसका अन्तःकरण आपके चरणों में किसी भी देश काल में रहते हुये स्थित है, सदा स्थित है, हमेशा आपके चरणों में ही लगा हुआ है तो वह योग ही कर रहा है। **'चेत्'** अर्थात् यदि। इन तीनों श्लोकों के अन्दर **'चेत्'** या **'यदि'** शब्द का प्रयोग आचार्य शंकर ने तीनों जगहों पर किया है; इसके द्वारा परमात्मा में मन लगने की दुर्लभता को कहा है। यदि लग जाये अर्थात् लगना बड़ा दुर्लभ है, प्रयत्न करने पर ही होता है। दुर्लभता इसीलिये नहीं बताई जाती है कि हमसे हो नहीं सकता, वह तो केवल इसलिये बतलाई जाती है कि सावधानी से करना पड़ेगा, प्रमादी नहीं बन जाना। यदि लग जाता है तो आचार्य कहते हैं **'असौ योगः'** बस यही तो योग है, और कोई योग है नहीं। लग जाना योग है और जिसका लग गया वही परमयोगी है। प्रश्न होगा कि प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान ये सब भी तो योग हैं? उत्तर है कि योग तो हैं लेकिन एक फ़र्क है :

'स च सुखी' परमात्मा के चरणों में लगा हुआ व्यक्ति योग करते हुये सुख का अनुभव करता है। प्राणायामादि अन्य योगों को करने के बाद जब फल आयेगा तब सुख होगा, परन्तु परमात्मा इतना सुन्दर, इतना प्रिय है कि अन्तःकरण उसके अन्दर लगाते हैं तभी सुख हो जाता है। जब वह मिलेगा तब तो परमानंद मिलेगा ही, लेकिन उसका चिंतन भी हमको सुख दे देता है। प्रिय वस्तु का मन से विचार भी सुख देता है। भूख लगी हो तब चना-मुरी को सोचो और खुरचन को सोचो तो खुरचन के चिंतन से ही मुख खिल उठेगा! इसी प्रकार से परमात्मा के गुण इतने अच्छे हैं, इतना वह मन को प्रसन्न करने वाला है कि जब मिलेगा तब तो आनन्दरूप हो ही जायेंगे लेकिन अभी मन से भी जब उसको सोचते हैं तो सुख का अनुभव होता है। इसलिये कहा कि यह जो योग है, यह करते समय भी सुख देने वाला है। इसलिये शास्त्रकारों ने स्पष्ट कर दिया है **'न कालनियमो यत्र न देशस्य स्थलस्य च, यत्रास्य रमते चित्तं'** यहाँ न देश का नियम है, न काल का नियम है, केवल मन रम जाना चाहिये। इसी प्रकार से भगवान् वेदव्यास ने भी ब्रह्मसूत्रों में कहा **'यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात्'** जहाँ तुम्हारे चित्त में परमात्मा के सिवाय और कोई सामने न आवे वहाँ फिर कोई विशेष नहीं कि इस जगह करो तो ज़्यादा लाभ इस जगह करो तो कम। अतः मन हमारे पास, परमात्मा व्यापक, उसके गुणों का अनुचिंतन करके उसके अन्दर मन को बसा लिया तो काम हो गया। देश, काल, परिस्थितियाँ, जीवनक्रम–इन सबसे कोई फ़र्क नहीं पड़ता यह तात्पर्य है।।१२।।

(१३)

पूर्व श्लोकों में बतलाया कि साध्य परमात्मा सर्वत्र सुलभ है और साधन, मन, जीवमात्र के पास सुलभ है। देश, काल, जन्म, जीवन-प्रकार इत्यादि भेदों से परमात्म-प्राप्ति की साधना में कोई फ़र्क पड़ता नहीं। यह बात दूसरी है कि कुछ परिस्थितियाँ, कुछ देश-काल, कुछ जीवन-प्रकार, ज़्यादा मदद कर सकते हैं कुछ कम मदद कर सकते हैं अतः पहुँचने में थोड़ी देरी या थोड़ी जल्दी हो सकती है परन्तु पहुँचने में रुकावट नहीं है। अब प्रश्न होता है, फिर रुकावट है क्या? फिर क्यों इधर प्रवृत्ति नहीं होती, मन पशुपति के चरणों में लगता क्यों नहीं? उत्तर बतलाते हैं–

असारे संसारे निजभजनदूरे जडधिया,
भ्रमन्तं मामन्धं परमकृपया पातुमुचितम् ।
मदन्यः को दीनस्तव कृपणरक्षातिनिपुण-
स्त्वदन्यः को वा मे त्रिजगति शरण्यः पशुपते ।।१३।।

हे पशुपति! निज–भजन से दूर रहकर जडबुद्धि से असार-संसार में भटकते हुए मुझ अंधे की आप रक्षा करें यही उचित है। आपके लिये मुझसे अन्य कौन दीन है जिसका रक्षण ज़्यादा ज़रूरी हो? मेरे लिये भी आपसे अन्य कौन है जो दीनों की रक्षा में तत्पर हो? तीनों लोकों में आप ही शरण लेने योग्य हैं।

मन न लगने में कारण बतला दिया **'जडधिया'** हमारी बुद्धि जड है। हम तो चेतन हैं पर हमारी बुद्धि जड है अतः बुद्धि हमेशा जड की तरफ जाती है। हम कोई बढ़िया अट्टालिका देखते हैं, आलीशान मकान देखते हैं, चारों तरफ उसमें ग्रेनाइट लगा हुआ देखते हैं, नहाने-घर में जाते हैं तो सोने के नल देखते

हैं; हमारी बुद्धि क्या निश्चित करती है? कि 'यह बड़ा सुखी घर है।' जड बुद्धि कभी यह पता लगाने का प्रयत्न ही नहीं करती कि घर सुखी तब होगा जब इसमें रहने वाले सुखी होंगे। रहने वाले चेतन हैं, जब तक हम उनको न देख लें तब तक हम कैसे निर्णय करें? अगर उनके अन्दर राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, रूपी अग्नि जल रही है तो बेचारे दुःखी होने के सिवाय और हो ही क्या सकते हैं! परन्तु बुद्धि इसका विचार नहीं करती क्योंकि जड है। जड मारबल बढ़िया लगा हुआ है, जड ग्रेनाइट बढ़िया लगा हुआ है, जड बाथरूम के नलके बढ़िया लगे हुये हैं इसीलिये जड बुद्धि निर्णय करती है कि ये लोग सुखी हैं। ठीक इस कारण से हमारी बुद्धि जड होने से जड संसार का तो खूब चिन्तन करती है। वर्तमान काल में खूब प्रयत्न करके कोई चन्द्रमा का पत्थर ला रहा है, कोई मंगल के चक्कर काट रहा है, और सब क्या कहते हैं? बड़ी उन्नति हो रही है! कई बार लोग कहते हैं 'महाराज आजकल के बच्चे पहले के बच्चों से बड़े बुद्धिमान् हैं।' हम पूछते हैं 'तुमको पता कैसे चला?' कहते हैं 'तीन साल का बच्चा टेलीविजन चला लेता है, टलीफोन मिला लेता है।' यह कोई नहीं कहता है कि तीन साल का बच्चा, छोटा भाई धक्का भी मारता है तो वह प्यार से दुलारता है। आज के बच्चों के बारे में पूछें कि छोटा भाई इसको धक्का मारता है तो क्या करता है? कहते हैं 'चाँटा मार देता है।' फिर भी मानते हैं कि बच्चे बड़े बुद्धिमान् हो रहे हैं! क्यों? क्योंकि हमारी बुद्धि जड होने से बार-बार जड की तरफ जाकर ही सोचती है कि बढ़िया काम हो रहा है।

बुद्धि जड होने से **'संसारे'** इस संसार चक्र के अन्दर ही फँसने के साधन हम निकालते रहते हैं, ढूँढ़ते रहते हैं। लोग कहते हैं 'महाराज, पहले से लोगों का आवागमन बहुत तेज़ हो

गया, अमेरिका से यहाँ एक दिन में पहुँच जाते हैं।' हम उनसे पूछते हैं 'पहले छह महीने में पहुँचते थे, अब एक दिन में पहुँचते हो तो बाकी के एक सौ उन्यासी दिन आराम से घर में रहते हो? उतने दिन तो कुछ काम नहीं करना पड़ता होगा?' कहते हैं 'एक सौ उन्यासी दिनों की बात करते हैं! यहाँ एक सौ उन्यासी मिनट की भी फुर्सत नहीं है।' तब तेज़ी हुई कहाँ? अगर तुम्हारे पास समय बचता, तब तो हम मानते कि जल्दी पहुँचे, समय तो तुम्हारे पास बचा कुछ नहीं, पहले से ज़्यादा ही हम लोगों को व्यस्त देखते हैं। इसलिये कहा कि संसार की तरफ जडबुद्धि होने के कारण जाते हैं। ऐसी चीज़ों का विस्तार हम जडबुद्धि के कारण करते हैं जो हमें बार-बार इस संसार चक्र में फँसावें।

संसार चक्र में ही फँसते हैं तो हर्जा क्या है? हर्जा यह है कि चाहे-जितना इस संसार में गोते अनन्त काल तक लगाते रहो, आगे इसमें सार कुछ मिलना है नहीं, इसमें से कोई ऐसी चीज़ जो तुमको शांति और आनन्द दे दे, मिलनी है नहीं। संसार का सार तो एक ही है **'कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारं'** संसारसार, संसार का सार एक है, कोई दूसरा सार है ही नहीं। करुणा के अवतार कर्पूरगौर शरीर वाले भगवान् शंकर के सिवाय और इस संसार में सार कुछ नहीं है। सार किसको कहते हैं? जो किसी चीज़ को शक्ति देने वाला होता है उसी को सार कहते हैं। जैसे दूध का सार घी को बतलाते हैं क्योंकि सार पदार्थ उसमें घी ही है। तिल का सार तेल है, अनार का सार उसका रस है, नारंगी का सार उसका रस है, दूध यदि घी-निकला हुआ पीओगे तो तुमको ताकत नहीं दे सकता, तेल निकली हुई तिल की खली खाओगे तो वह तुमको ताकत नहीं दे सकती। अनार का तुमने रस निकाल लिया, उसका बचा हुआ कूचा तुमको ताकत नहीं दे सकता। नारंगी का रस निकाल

लिया, जो बचा हुआ थोथा है वह तुमको ताकत नहीं दे सकता। यदि तुमने केवल नारंगी का रस पिया, अनार का रस पिया तब तुमको ताकत मिल जायेगी। सार पदार्थ वह होता है जो किसी शक्ति को देता है। ऐसे ही इस सारे संसार को चलने की शक्ति देने वाला संसार का सार होगा। तो सारे संसार को चलाने वाला एकमात्र देवाधिदेव महादेव है। उसकी शक्ति क्या है? वह सद्रूप है, अर्थात् 'है' वह उसका रूप है। जिस चीज़ में से वह 'है' निकाल लेता है, वह क्या रह जाती है? 'नहीं है' रह जाती है। 'नहीं है', मतलब, कुछ नहीं। सद् ब्रह्म ही संसार का सार है, उसको छोड़कर बाकी जितना है वह सारा का सारा असार संसार है। अब यह सार के बिना अर्थात् परमात्मा के बिना संसार असार है, सारहीन है।

परन्तु जडबुद्धि होने के कारण हम इस बात को समझ नहीं पाते। भारत में अधिकतर लोग अंग्रेज़ी जानते नहीं परन्तु कुछ अंग्रेज़ी शब्दों को सुने होते हैं। शरीर में कमज़ोरी होती है, डॉक्टर के पास जाते हैं, डॉक्टर अंग्रेज़ी में कहता है 'टॉनिक दे रहे हैं' तो लोग समझ लेते हैं कि कोई ताकत की चीज़ होती होगी। व्यापारियों ने सोचा कि अधिकतर लोग अंग्रेज़ी जानते नहीं, 'टॉनिक' शब्द सुना हुआ है, तो दूध को जब साररहित कर लेते हैं तब कहते हैं 'डबल टोंड' मिल्क है। बेचारे लोग सोचते हैं कि इसमें ताकत भरी होगी, अतः व्यापारी ज़्यादा पैसा ले लेते हैं। ठीक इसी प्रकार से जिस संसार में परमात्मा का स्पर्श नहीं रहा वह हो तो गया असार संसार क्योंकि परमात्मा को निकाल दिया, फिर भी समझ न पाने से ऐसी बढ़ोत्तरी को भी हम उन्नति मानते रहते हैं। गर्व से कहते भी हैं 'हमारी प्रगति हो रही है, हमने पचास वर्षों में कितनी उन्नति कर ली! पहले लोग सब मरे पड़े थे, चुप-चाप रहते थे।' अब देखो, कितने कत्ल करते

हैं, कितनी औरतों को जलाते हैं। पहले बेचारे कभी दस-बीस साल में कोई एक औरत सती होती थी, अब तो हम लोग केवल दिल्ली शहर में हर हफ्ते एक को जला देते हैं! परमात्मा को मानकर तो हम सोये पड़े थे, कुछ नहीं करते थे, पिछड़े हुये थे। यह सब देखते नहीं वरन् जडबुद्धि होने के कारण इसको प्रगति समझते हैं, उन्नति समझते हैं। क्या कभी बैठकर सोचते हैं 'यह सब जो हो रहा है वह क्यों हो रहा है? जिस दिन से हमने सेक्यूलरिज्म (धर्मनिरपेक्षता), सोशलिज्म (समाजवाद), डेमोक्रेसी (जनतन्त्र) शुरू की तब से ये चीज़ें बढ़ीं कि घटीं?' कोई बैठकर सोचता है? कोई नहीं। जडधी क्या कहती है? इतनी सड़कें बना लीं, इतनी मल्टीस्टोरीज़ (बहुमंज़िला इमारतें) बना लीं, इतने हवाई अड्डे बना लिये, शताब्दी ट्रेन चला ली—सब जड चीज़ों को कहते हैं; लोगों को जला दिया—उससे कोई मतलब नहीं! परमात्मा-रूपी सार को हटा देने से यह संसार असार हो जाता है। अर्थात् यह संसार तुम्हारे वास्तविक चेतन को कोई शक्ति देने वाला नहीं रहता, अतः चेतन प्राणियों की अशांति और दुःख बढ़ते रहते हैं।

क्योंकि हमारी जड बुद्धि उधर जाती है इसीलिये यह संसार कैसा हो गया है? **'निजभजनदूरे'** आपके भजन से मुझे दूर करता रहता है। 'निज' शब्द का मतलब 'खुद' होता है। यहाँ यह बतलाया नहीं कि कौन खुद? अतः खुद शिव के भजन से दूर होता है—यह भी अर्थ हो सकता है; या खुद अपने भजन से दूर होता है—यह अर्थ भी है। निज-शब्द से दोनों को ही कह रहे हैं। **'भज सेवायाम्'** धातु है। खुद अपनी सेवा अर्थात् चेतन की सेवा। मेरे अंदर आनन्द का उल्लास बढ़ रहा है या नहीं—इससे पता चलता है कि मैं अपनी सेवा कर रहा हूँ या नहीं। अपनी सेवा करने का मतलब क्या? मैं आनन्दित रहूँ—यही

मेरी सेवा है। परन्तु **'निजभजनदूरे'**, अपने आनन्द से मैं अपने को दूर कर रहा हूँ इस असार संसार के लिये! बढ़िया मकान था, लम्बी-चौड़ी बगिया थी, बड़े पेड़ लगे हुये थे, आराम से रहता था। पर 'निजभजनदूरे' अतः अपने मकान में मल्टी स्टोरीज बना ली, पचास फ्लैट बना लिये, पचास करोड़ रुपये कमा लिये, कि 'मैं भी इसी तरह छोटे से फ्लैट बना कर रह लूँगा और पचास करोड़ कमा लूँगा।' भगवान् ने तुमको ऐसी जगह पैदा किया जहाँ इस आनन्द को तुम खुद उठाओ, क्यों नहीं उठाते हो? अपने सुख को भी छोड़ते हो, जडबुद्धि होने से। चाहे जितना प्रदूषण हो जाये, चाहे जितना धुँआँ हो जाये, चाहे जितनी गंदगी हो ज़ाये, पीने को जिस पानी को डाक्टर भी मना कर दे, पानी देने वाला जलदाय विभाग भी विज्ञापन निकाल दे 'यह पानी बिना उबाले पीना खतरनाक है, बीमार पड़ोगे तो हमारी जिम्मेदारी नहीं', उस पानी को भी पीना पड़े, यह सब स्वीकार लेते हैं क्योंकि मर्सीडीज मोटर में बैठ कर घूमना है! यहाँ से कहीं दूसरी जगह चले जायेंगे तो बाईस लाख की मोटर कैसे खरीदेंगे? फेफड़े तो भगवान् के दिये हुये हैं, ये भले ही सड़ें, इससे अपने को क्या! किडनी? 'अरे जी, किडनी तो गंदी चीज़ होती ही है, गंदा काम करने के लिये है ही। थोड़े दिनों में बंद हो जायेगी, कोई बात नहीं है। पन्द्रह हज़ार रूपये लगा करेंगे, हर हफ्ते डायलेसिस करा लेंगे। इसमें क्या रखा है, बाईस लाख की मोटर तो है।' इसीलिये कहा **'निजभजनदूरे'**। जब खुद अपने चेतन की सेवा ही करने को तैयार नहीं, तो उस व्यापक चेतन शिव की सेवा कौन करेगा? आपके भजन से दूर करने वाली चीज़ कौन-सी है? जड बुद्धि। अहंकारात्मिकावृत्ति जड है इसीलिये यह असार संसार की तरफ जाती है। 'असार संसार' याद रखना : अगर *ससार* संसार हो तो उसकी ओर जाने के कोई मायने भी हों।

तिल खाना तो ठीक है परन्तु तेल निकला हुआ तिल खाना बेकार है। इसी प्रकार परमेश्वर के द्वारा भरे हुये इस संसार का सेवन करना तो ठीक है पर असार का अर्थात् उसके सार को निकाल कर, परमात्मा के बिना इस संसार को समझना—बस यह जडबुद्धि का कार्य है।

यद्यपि अहंकार निरा जड नहीं, उसमें चेतन भी मिला हुआ है तथापि—मैं क्या करूँ! **'भ्रमन्तंभामन्धं'** मैं चेतन हूँ लेकिन अंधा हो गया हूँ। बहुत साल पहले की बात है, सन् इकतालिस में कलकत्ते के अन्दर जापानियों के बम्ब पड़े। वहाँ सरकार का कानून हो गया कि गलियों में बत्ती नहीं जलाई जायेगी। अंधेरे में कुछ दीखता तो था ही नहीं, लोग निकलते ही कम थे। कहीं निकलकर जाना था, पहुँचना जल्दी था तो यही निर्णय किया गया कि अंधेरे में रास्ता दीखेगा नहीं। अतः धीरे चलने से भी कोई फ़ायदा तो है नहीं, तो खूब ज़ोर से चलें। शहर में रहने वाले को गलियाँ जानी हुई होती हैं। अकस्मात् सामने से कोई दूसरा भी तेज़ी से आ रहा था, धड़ाम से एक दूसरे-से भिड़े और झट से गिरे। सोचा, 'यह आदमी चिल्लायेगा', तो गिरने के साथ ही कहा 'अरे, मैं तो अंधा हूँ ही, तू भी अंधा हो गया क्या?' अब वह दूसरा आदमी बेचारा ठंडा पड़ गया, जल्दी से उठकर आया, क्योंकि उसने सोचा कि 'यह तो अंधा है, इसको तो पता नहीं कि अंधेरा है मुझे ही ध्यान रखना चाहिये था।' जैसे अंधकार के कारण आँख वाला भी अंधा जैसा ही हो जाता है; सचमुच अंधा तो नहीं हो जाता लेकिन अंधे जैसा हो जाता है; इसी प्रकार जो यह अज्ञान का अन्धकार है यह मुझ चेतन को कुछ भी समझने देता नहीं, देखने देता नहीं। इस अज्ञान अंधकार ने, आवरण ने मुझे अंधे जैसा कर दिया है। इसीलिये **'भ्रमन्तं'** इस संसार के अन्दर मैं ऊपर-नीचे भ्रम रहा

हूँ, भ्रम में घूम रहा हूँ। मैं तो अंधा हूँ, अज्ञान अन्धकार के कारण; सामने वाले आप तो अंधे हैं नहीं! जैसे दृष्टान्त में जिसने कहा 'मैं अंधा हूँ' उसकी रक्षा की गयी, वैसे ही मैं सच्चा अंधा तो कभी हो नहीं सकता क्योंकि अज्ञान कभी सचमुच ज्ञान को ढाँक नहीं सकता, परन्तु फिर भी मैं अंधा बना हुआ हूँ। क्यों अंधा बना हुआ हूँ? अगली पंक्ति में कहेंगे **'मदन्यः को दीनः'** मेरे से भिन्न और दीन कौन है? दीन शब्द का अर्थ होता है जिसका नाश हो गया है। नष्ट को दीन कहते हैं। नाश यही हो गया है कि अज्ञानान्धकार के कारण मैं अंधा हूँ, जैसे अंधे व्यक्ति को पता नहीं 'मैं कहाँ गिर रहा हूँ', ऐसे ही मुझे पता नहीं मैं कहाँ गिर रहा हूँ इसीलिये मैं नष्ट ही हूँ।

मुझ अंधे का, बने हुये अंधे का सही, क्योंकि सच्चा अंधा तो हो नहीं सकता!, **'परमकृपया पातुमुचितम्'** आप अपनी परम कृपा से ही पालन करें यही उचित है। मेरे में किसी सामर्थ्य की स्थिति अब नहीं रह गयी है क्योंकि दीन हूँ। इसके द्वारा यह बतलाया कि साधन-क्रम में अपनी दीनता का वास्तविक ज्ञान हो जाये, सचमुच में पता लग जाये कि मैं इस अज्ञानान्धकार के आवरण में फँसा हुआ इसमें से निकलने में सचमुच में असमर्थ हूँ, नष्ट हो रहा हूँ—अगर इस दीनता को स्वीकार करते हैं तो, स्वीकार कर लिया कि जड अंतःकरण से होने वाली अहंकार-वृत्ति को प्रधानता नहीं दे रहे हैं। 'मैं दीन हूँ' मतलब मैं नष्ट हो गया हूँ अर्थात् मेरे अहंकार ने मुझे बर्बाद कर दिया है। 'मेरा' दिवाला निकल गया है अर्थात् अहंकार नाम का कोई फर्म रह नहीं गया है! जब आदमी दीन बन जाता है तभी कहता है कि 'मेरी फर्म खत्म हो गयी', अन्यथा कोशिश करता रहता है। जब तक लगता है कि 'मैं बचा लूँगा', तब तक गहना, घर, ज़मीन

आदि गिरवी रख कर, दोस्तों से उधार लेकर कुछ करके, फर्म को जिंदा रखता है, पर जब समझ लेता है कि नष्ट हो गया, तब फर्म को खत्म कर देता है, दिवाला घोषित कर देता है। इसी तरह अब तक तो मैं अपने को समझता था कि बड़ा भारी व्यापारी हूँ। किसी भी तरह से चला रहा था, पर अब पता लग गया कि मेरी यह अहंकार की फर्म मुझे ले डूबी। अतः अहंकार की फर्म मैंने बंद कर दी, दिवाला निकाल दिया। जब इस दीनता का ज्ञान होता है तब ऐसे व्यक्ति को जो परम कृपालु होता है वह मदद करता है। एक लौकिक कहानी है; यह कोई पुराण की कहानी नहीं है : भगवान् और लक्ष्मी दोनों बैठे हुये थे। भगवान् ज़रा खड़े हुये और वापस बैठ गये। लक्ष्मीजी ने पूछा 'क्यों खड़े हुये थे?' बोले 'ऐसे ही, कोई बात नहीं।' बोली 'नहीं, कोई तो बात होगी।' बोले 'जंगल में कोई व्यक्ति जा रहा था, उसके ऊपर एक रीछ ने आक्रमण किया। उसने कहा 'हे भगवान्' तो मैं उसकी मदद करने के लिये उठ रहा था, तब तक उसने पत्थर उठा लिया फेंकने के लिये तो बैठ गया कि पत्थर का अभी तक सहारा है, तब मैं झंझट करके वहाँ काहे के लिये जाऊँ?' जब तक हमारे अंदर अहंकार रहेगा तब तक हम अपनी दीनता का बोध नहीं करेंगे और तब तक उनकी *परम* कृपा भी नहीं होगी। तुम दीन नहीं भी बनोगे, अपने को तुम सक्षम समझते रहोगे, तो भी उनकी कृपा होती रहेगी। उनकी कृपा यह है कि जो तुम चाहते हो वह तुमको मिल जाये। तुम बुद्धि से जड चीज़ों को चाहोगे, वे जड चीज़ें तुमको मिल जायेंगी। उनकी कृपा तो अब भी है। परन्तु परम कृपा नहीं है कि वे अपने स्वरूप को, अपने माया के आवरण को हटा कर जैसा अपना शुद्ध वास्तविक निर्विकल्प स्वरूप है वह तुमको दिखा दे। वह परम कृपा अहंनिवृत्ति के बिना नहीं होगी, बाकी जो चीज़ें तुम चाहोगे,

ब्रह्मलोक पर्यन्त जो चाहोगे, वे तुमको देंगे। उनकी कृपा कभी नहीं जाती है परन्तु श्रुति कहती है कि वे अपने शरीर को तब तक नहीं दिखलाते। परन्तु अब चूँकि मैंने अपनी दीनता को जान लिया है अतः अब परम कृपा करके मुझे परम आनन्द में मग्न कर दीजिये।

'कृपणरक्षातिनिपुणः' संसार में कृपण हमारे यहाँ बड़ा ही निकृष्ट आदमी माना गया है। इसीलिये पुराने लोग कहते थे कि सबेरे उठकर किसी कंजूस का नाम भी नहीं लेना चाहिये, उस दिन या खाने को मिलेगा नहीं और मिलेगा तो बिलकुल ठंडा मिलेगा। प्राचीन शास्त्रकारों ने तो कह दिया है सबेरे ही नहीं, दिन-भर उसका कभी मुँह से नाम भी नहीं निकालना चाहिये। **'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः।'** यदि अपना कल्याण चाहता है तो जिन-जिन का नाम न ले उन्हीं में कहा कि जो कंजूस है उसका नाम न ले, अतिकृपण का नाम न ले। ऐसा अतिकृपण मैं हूँ। क्यों हूँ ऐसा कृपण? कृपण की अतिशयता कैसी होती है? जिस वस्तु के बारे में पूर्ण निश्चय है कि बेकार है, किसी के भी किसी काम की नहीं, उसे भी फेंक नहीं सकते! इसी प्रकार से मैंने इस संसार को असार भी सत्संग के द्वारा समझ लिया, इसके कारण मैं भजन से दूर हो रहा हूँ—यह भी समझ लिया, परन्तु यह सब होने के बाद भी मैं इस अहंकार को फेंक नहीं पा रहा हूँ! मुझे लगता है 'अनादि काल से यह अहंकार मेरे साथ रहा, सब कुछ इसके भरोसे किया, यह काम तो कुछ नहीं करता सिवाय दुःख देने के लेकिन इसको फेंक कैसे दूँ?' इसलिये मैं अतिकृपण हूँ, अति कंजूस हूँ, आपके सिवाय कोई मेरा नाम भी लेगा नहीं, तो रक्षा कोई क्या करेगा! परन्तु ऐसे मेरी रक्षा

करने में आप अतिनिपुण हैं। आप ऐसे कृपण की भी रक्षा कर लेते हैं।

'त्वदन्यः कः' आपके सिवाय और कौन है जो मुझ जैसे कृपण की रक्षा करे? कोई करने वाला नहीं है। आप क्यों ऐसे कृपण की रक्षा करते हैं? क्योंकि मैं आपका प्रतिबिम्ब हूँ। आपका प्रतिबिम्ब न होता तो आप उपेक्षा कर भी सकते थे किन्तु हूँ प्रतिबिम्ब ही। चाहे तीन दिन की हजामत बढ़ी हुई है, रेल में आये हो, काँच के सामने खड़े होते हो भूत जैसे दीखते हो। वह जो सामने दीख रहा है भूत जैसा, जिसके बाल भी इधर-उधर हो गये हैं, तीन दिन की यात्रा से चेहरे पर कालिख भी आ गई है, तीन दिन की हजामत भी बढ़ गई है, फिर भी क्या छोड़ते हो उस भूत को? वरन् हजामत बनाते हो, नहाते-धोते हो, फिर अच्छी तरह से देखते हो कि अब मैं ठीक हो गया। वह जो अत्यन्त गया-बीता दिख रहा था उसको हमने अब सुन्दर बनाया कि नहीं बना दिया? इतना सब परिश्रम किया कि नहीं किया? आधा घंटा लगा दिया सब काम करने में; क्यों किया? हमको पता है कि हम ही तो दिख रहे हैं। इसी प्रकार, मैं आपका प्रतिबिम्ब हूँ इसीलिये आप अत्यन्त निपुणतापूर्वक अवश्य मेरी रक्षा करेंगे, और कोई नहीं करेगा। और किसी को कहेंगे भी तो कहेगा कि 'तू भूत जैसा दीखता है, कौन तेरे साथ बात करे!' तीनों जगत् में, लोकों में कोई ऐसा नहीं है जो मेरे लिये शरण लेने योग्य हो। आप पशुपति हैं, आप ही मेरे पति हैं, इसीलिये आप ही शरण लेने के योग्य हैं इसलिये आपकी ही शरण लेता हूँ।।१३।।

(१४)

जब तक अपने अन्दर दीनता का भाव नहीं आता तब तक अहंकार से छुट्टी मिलती नहीं। अहंकार से छूटने पर ही शरणागति होती है। दो विरुद्ध चीज़ें एक-साथ नहीं रह सकतीं; या मैं किसी काम को कर सकता हूँ, या नहीं कर सकता हूँ। समस्या तब होती है जब हम डाँवाडोल में पड़े रहते हैं–कभी सोचते हैं, 'कर सकता हूँ', कभी सोचते हैं 'नहीं कर सकता हूँ।' आचार्य शंकर ने इसको नास्तिकता बतलाया है, वे कहते हैं–

'अहं कर्तास्मि भोक्तास्मि ब्रह्मास्मीति च ये विदुः।
ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाः स्युर्न संशयः।।'

'मैं कर सकता हूँ, मैं भोग करता हूँ, करने वाला हूँ, भोक्ता हूँ, भोगनेवाला हूँ', ऐसा भी समझते हैं और 'मैं आत्मा अकर्ता अभोक्ता कुछ नहीं करने वाला साक्षी मात्र हूँ।' ऐसा भी समझते हैं; ऐसों को नास्तिक ही मानना चाहिये। कभी मानें 'मैं चिन्मात्र हूँ, साक्षीरूप हूँ' और थोड़ी देर बाद माने 'अब दस बज रहे हैं, चाभी पास में है, मैं जाऊँगा तो दुकान खुलेगी।' ये दो बातें आपस में एक-दूसरे के विरुद्ध हैं, यदि मैं चिन्मात्र साक्षिरूप हूँ, तो जाने-आने वाला नहीं, दुकान खोलने वाला नहीं। और अगर मैं दुकान खोलने वाला हूँ तो मैं साक्षिरूप नहीं। फिर भी जो ऐसी विरुद्ध बात मानना चाहते हैं वे न ज्ञान पा सकते हैं, न कर्म कर पाते हैं। जब शास्त्रीय कर्म करने का समय आता है तब तो कहते हैं कि 'कर्म करके क्या होगा! आत्मा तो अकर्ता, अभोक्ता है।' इसीलिये शुभ कर्म नहीं कर पाते। और श्रवण-मनन की साधना, जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो सकती थी, वह इसीलिये नहीं कर पाते कि 'घर के धंधे हमारे बिना चलेंगे कैसे?' एक तरफ तो सोचते हैं, 'कर्म करके स्वर्ग की प्राप्ति होगी, उस स्वर्ग को

लेकर क्या करना है? हम तो मोक्ष चाहते है।' परन्तु 'दुकान खोलकर क्या होगा? हमको रुपया थोड़े ही कमाना है, हम तो मोक्ष चाहते हैं' ऐसा निश्चय नहीं होता। शास्त्रीय कर्म करते समय तो साक्षिरूपता याद आती है इसलिये कर्म नहीं कर पाते तथा ज्ञान की साधना श्रवण-मनन करने के समय घर का धंधा याद आता है। इसीलिये श्रवण-मनन में नहीं लग पाते।

नास्तिक शब्द का अर्थ बतलाते हुये भगवान् पाणिनि ने कहा है, जो परलोक को विचार के अन्दर नहीं लाता वह नास्तिक है। 'जो कुछ है बस यह संसार ही है, जो कोई फल दीखना है वह इस संसार में ही दीखना है'–ऐसी नास्तिक की मति होती है। बहुत से लोग वर्तमान काल में कहते ही हैं, 'धर्म तो समाज को ठीक से चलाने के लिये है।' अर्थात् उनकी दृष्टि में धर्म समाज को व्यवस्थित रखने के लिये है, बाकी, धर्म से परमात्मा मिलता हो, मोक्ष मिलता हो, स्वर्गादि मिलता हो, यह सब नहीं। उनकी धार्मिकता का स्वरूप होता है 'रुद्राक्ष पहनने से ब्लड प्रेशर में फ़ायदा होता है, हृदय-रोग में फ़ायदा होता है, इसीलिये तो शास्त्रों में इसको पहनने को कहा है।' इसी तरह 'बीच-बीच में कभी-कभी पेट को आराम देना चाहिये इसलिये एकादशी इत्यादि का व्रत बताया है।' हर चीज़ उनको लगती है कि बस, इस संसार के लिये ही हुआ करती है। ऐसे लागों ने योग को भी इहलौकिक बना लिया है। महर्षि पतंजलि ने कहा है **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** कि योग वह है जिसमें चित्तवृत्ति निरुद्ध अर्थात् समाहित होती है। किन्तु नास्तिक इसका फल यहाँ शरीरादि को ठीक करने में ही मानते हैं, उसका परमात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार वर्तमान काल में अनेक प्रकार के ध्यानों की व्यवस्था भी चल रही है। पूछो कि 'किसका ध्यान करते हैं?' कहते हैं 'बस, किसी चीज़ का ध्यान नहीं करते।' मन से कुछ नहीं सोचना–बस इसको वे ध्यान समझते हैं। कुछ

नहीं सोचोगे तो उसका फल भी तुमको 'कुछ नहीं' ही मिलना है! भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने स्पष्ट कहा है–

'भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
पूर्णवृत्त्या हि पूर्णत्वं तस्मात् पूर्णत्वमभ्यसेत्।।'

भाववृत्ति कृष्ण, विष्णु, शंकर, देवी–जो भी सगुणरूप तुमको अच्छा लगता हो, उसका ध्यान करोगे तो उसकी प्राप्ति होगी। **'शून्यवृत्त्या'** कुछ नहीं का ध्यान करोगे तो कुछ नहीं की प्राप्ति होगी। **'पूर्णवृत्त्या हि पूर्णत्वं'** अगर परब्रह्म परमात्मा कण-कण और क्षण-क्षण में है और मेरे अहं में रहने वाला भी वही है यह वृत्ति रखोगे तो पूर्णता ही मिलेगी। सारे संसार में वह पूर्ण है, भरा हुआ है–इस प्रकार कण-कण और क्षण-क्षण में व्यापी परमेश्वर का ध्यान करोगे तब तुम भी पूर्ण हो जाओगे।

नास्तिक वह होता है जो इस संसार से अतिरिक्त और कोई फल नहीं समझता। हर चीज़ को यहीं क्यों देखता है : दो ही उद्देश्य होते हैं। शास्त्रीय धर्म का आचरण करके स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त की प्राप्ति हो सकती है; वह उसको नहीं जँचती। श्रवण-मनन करके आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो सकती है; वह भी उसको नहीं जँचती। अतः इसे धर्म व मोक्ष रूप उद्देश्य तो प्रतीत होते नहीं, केवल दृष्ट संसार में उद्देश्य तय करता है। कर्तृत्व–भोक्तृत्व के चक्र में डालने वाला है अहंकार। शास्त्र कहता है तो लगता है 'मैं कुछ करने वाला नहीं।' किन्तु अहंकार प्रतीति कराता है 'मेरे बिना किये कैसे होगा?' अतः सुख-दुःख की उपलब्धि भी ईश्वरेच्छा पर नहीं छोड़ पाते, अपने ही कर्मों से जोड़ते हैं। किन्तु जब तक स्वयं को कर्त्ता मानते हो तब तक तुम परमेश्वर की शरणागति नहीं कर सकते। इसीलिये शरणागति का रूप बतलाते हुये शास्त्रकारों ने कहा है–**'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम्'** जो परमात्मा के अनुकूल चीज़ है, उसी का मन में संकल्प करना। परमात्मा के अनुकूल क्या है? परमात्मा कहते हैं, 'सत्य बोलो', उसके अनुकूल है सत्य बोलना। मुकदमा जीतते हो झूठ बोलने से, व्यापार में बढ़ोतरी होती है झूठ बोलने से। झूठ बोलते हो। बेचते हो मिट्टी-तेल मिला पेट्रोल और कहते हो 'शुद्ध पेट्रोल बेच रहा हूँ।' बेचते हो आधा खोट मिला सोना और कहते हो यह 'बिलकुल खरा सोना है', बेचते समय कहते हो 'खादी', और उसके बीच में पड़ा होता है पोलिस्टर फाईबर! तभी पैसा कमा सकते हो। किन्तु **'आनुकूल्यस्य संकल्पः'** अर्थात् परमात्मा हमें सत्य बुलवाना चाहता है, उसके अनुकूल सत्य बोलना है, इसलिये भले मुकदमा हारें, व्यापार में घाटा होवे, दुकान बंद हो जाये। 'हम सफल होंगे' यह अभिमान हमारा है नहीं तो उनके जो अनुकूल है वही संकल्प करेंगे। **'प्रातिकूल्यविवर्जनम्'** जो वे नहीं चाहते कि हम करें उसे कभी नहीं करेंगे। ऐसा सम्भव कैसे होता है? **'रक्षिष्यतीति विश्वासः'** क्योंकि हम को दृढ विश्वास है कि हमारी रक्षा करने वाला वही है।

एक बार एक गुरु और शिष्य एक शहर से दूसरे शहर जा रहे थे। पैदल यात्रा का युग था। एक जगह बहुत बड़ा बरगद का पेड़ था, वहीं पर बैठकर उन लोगों ने खिचड़ी बनाई, खाई और फिर थोड़ी देर के लिये सो गये, थके हुये तो थे ही, नींद आ गई। थोड़ी देरे के बाद शिष्य को लगा जैसे कोई चीज़ गले के ऊपर आ गई है। उसने आँखें खोलीं, खोलते ही उसने देखा कि उसके गुरुजी उसके ऊपर बैठ कर चाकू से उसका गला काट रहे हैं। शिष्य आँख बंद कर के फिर खर्राटे लेने लग गया! बाद में जब उठने का समय हुआ, तब उठा तो गले के ऊपर पट्टी लगी हुई थी। उठा, हाथ-पैर धोये, गुरुजी भी उठ गये, आगे चल पड़े। थोड़ी दूर आगे चले तब गुरुजी ने कहा 'अरे, तेरी आँख खुली थी?' बोला, 'हाँ! गले में ऐसा लगा तो मेरी आँख

खुल गई।' उन्होंने कहा 'तेरे गले में पट्टी लगी हुई है, तूने पूछा नहीं कि बात क्या है? तूने कुछ देखा था, तो जग क्यों नहीं गया?' शिष्य बोला 'गुरुजी, आप जग रहे थे तो फिर मैं जगकर क्या करता।' गुरु बोले 'मैं क्या कर रहा था?' शिष्य बोला 'आप चाकू से गला काट रहे थे।' 'तेरे मन में क्या आया?' 'मेरे मन में तो यही आया की गुरुजी जगकर जो भी कर रहे हैं ठीक कर रहे हैं।' यह है **'रक्षिष्यति इति विश्वासः'**। तब गुरुजी ने बताया 'अरे, तू सो रहा था, तो एक विषधर सर्प आया तुझे काटने के लिये। मैंने कहा 'अरे भाई, इसको नहीं काट।' उसने कहा 'आप हमको काटने से रोक भले ही लें, लेकिन मुझे जैसे ही मौका मिलेगा, मैं काटूँगा, क्योंकि पूर्व जन्म का मुझे इससे खून लेना है, मैं खून पिये बगैर छोडूँगा नहीं इसको।' मैंने पूछा 'तेरे को कितना खून पीना है?' उसने तादाद बतलाया कि आधी कटोरी खून पीना है। मैंने पूछा 'खून ही पीना है तेरे को?' बोला 'हाँ'। मैंने कहा 'तू रुक जा।' अगर साँप डँसकर खून पीता तब तो जहर चढ़ जाता। इसीलिये मैंने चाकू से तेरी नाड़ी काटी, उससे आधी कटोरी खून निकाला और उसको पिला दिया। अब उसका कर्जा पूरा हो गया, वह शांति से चला गया। इसीलिये तब मैं गर्दन काट रहा था।' उसने कहा, 'गुरुजी, यह तो मुझे पहले ही पता था कि जरूर मेरे किसी हित में आप वैसा कर रहे हैं, इसीलिये तो मैं सो गया था।'

जब यह विश्वास हो जाता है तब **'गोप्तृत्वे वरणं तथा'** तब एकमात्र परमेश्वर ही गोप्ता, रक्षक रहता है, उसके सिवाय और किसी से कुछ नहीं लेना योग्य लगता है। उपमन्यु की कथा में यह स्थिति प्रकट हो ही गयी थी। इस प्रकार अपने आपको सर्वथा उनके पास धरोहर में रख देना 'आत्मनिक्षेप' है और अपने अन्दर पूर्ण दीनता का अनुभव करना 'कार्पण्य' है। यह छह प्रकार

की शरणागति होती है : (i) अनुकूलता का संकल्प, (ii) प्रतिकूलता का परिवर्जन, (iii) वह रक्षा करेगा—यह विश्वास, (iv) उसके सिवाय और किसी से हमें कुछ लेना नहीं है—यह निश्चय, (v) अपने आपको उनके धरोहर में छोड़ देना, और (vi) इस प्रकार अपने को सर्वथा दीन रूप से अनुभव करना। इन छह का विचार करो तो मूलतः इन सबके अन्दर 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' इस अभिमान का त्याग ही है। आगे कई श्लोकों में अब इस शरणागति के रूपों का विस्तार करेंगे—

प्रभुस्त्वं दीनानां खलु परमबन्धुः पशुपते,
प्रमुख्योऽहं तेषामपि किमुत बन्धुत्वमनयोः ।
त्वयैव क्षन्तव्याः शिव मदपराधाश्च सकलाः,
प्रयत्नात्कर्तव्यं मदवनमियं बन्धुसरणिः ।।१४।।

हे पशुपति! आप दीनों के प्रभु और परम बंधु हैं तथा दीनों में मैं प्रमुख हूँ अतः हम दोनों की बंधुता का क्या कहना! हे शिव! मेरे सकल अपराध आप अवश्य क्षमा करें, कोशिश कर मेरी रक्षा करें क्योंकि यही बंधुता का मार्ग है।

आप दीनों के रक्षक हैं, प्रभु हैं, मालिक हैं। शंका होती है कि दीनों के रक्षक हैं तो क्या दूसरों के रक्षक नहीं हैं? वे तो सभी के प्रभु हैं, खाली दीनों के ही प्रभु हैं क्या? ब्रह्मसूत्र में आचार्य शंकर एक जगह कहते हैं, तीनों लोकों के अधिपति होने पर भी, राम को अयोध्यापति कहा जाता है। वर्तमान काल में तुम्हारी नई दिल्ली के अन्दर बैठी हुई सरकार सारे भारत की सरकार है। सारे भारत पर उसका एक जैसा राज्य है, परन्तु यू.पी. की पुलिस जो करे, उसमें वह स्वतन्त्र है, बिहार की पुलिस जो करे, उसमें वह स्वतन्त्र है, पर नई दिल्ली की पुलिस जो करे उस में दिल्ली सरकार स्वतन्त्र नहीं है। इसी तरह सारी

त्रिलोकी के पति होने पर भी अयोध्यापति होने की क्या विशेषता है? जो इस अभिमान से युक्त है 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ', मालिक तो उसके भी परमेश्वर हैं पर क्योंकि वह अपने को मालिक समझता है इसीलिये उसको छोड़कर रखते हैं कि 'भाई, ठीक है, तुम अपने को कर्त्ता भोक्ता कहते हो, तो कह लो कोई बात नहीं'; परन्तु जो दीन हो जाता है कि 'मैं करने-भोगने लायक हूँ ही नहीं', उसने कर्त्तापना छोड़ दिया इसीलिये उसका तो सारा भार उन्हीं का लिया हुआ है। गीता में भी भगवान् ने यही कहा है–

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।'

भगवान् ने कहा जो मेरे सिवाय और कुछ नहीं है–इस प्रकार का निरन्तर चिन्तन करने वाले हैं उनके योग-क्षेम का मैं निर्वाह करता हूँ। कर्त्ता-भोक्तापना भी मुझसे भिन्न नहीं समझते हैं। इस प्रकार से अपने अहंकार को छोड़कर अनन्य हो गये हैं, परमात्मा से अलग उनका अपना कर्त्ता-भोक्तापना भी नहीं रह गया है। किसी भक्त को भगवान् ने किसी विशिष्ट सुख का अनुभव कराया, उसने अनुभव किया, भगवान् ने उससे पूछा 'अरे, तेरे को इसमें कैसा मज़ा आया, मुझे भी बता दे।' उसने कहा 'महाराज! आप मेरे को बेवकूफ बना रहे हो! **'दर्वी पाकरसं यथा'**, कढ़ी के अन्दर कड़छी घूमती है, उस कड़छी को उसके स्वाद का पता है क्या? मेरा मन, बुद्धि, शरीर–ये तो सब कड़छियाँ हैं। इनमें चिन्मात्रस्वरूप तो आप बैठकर भोग कर रहे हैं। मेरे मन, बुद्धि, चित्त कड़छी जैसे हिल रहे हैं, लेकिन आप ही हिला रहे हैं और आप ही रस के स्वाद को जानते हैं। मुझे कहाँ से पता लगेगा!' भगवान् शंकर हँस पड़े कि बस यही देखना था। ऐसों को ही नित्याभियुक्त कहते हैं। पूजा पाठ तो दो-चार मिनट या दो-चार,

घंटे बहुत लोग करने वाले हैं। फिर अपने व्यापार धंधा, नौकरी का चिन्तन करते हैं। जो अनन्य चिन्तन करने वाले हैं वे तो हमेशा भगवान् का ही चिन्तन करते हैं, उसके सिवाय और कुछ नहीं करते। भगवान् उनके शरीर मन को जैसे भी, जहाँ भी रखें, वे भगवान् को ही सोचते रहते हैं। उनके शरीर, मन से कुछ भी हो, उनका ध्यान तो भगवान् की ही तरफ लगा हुआ है। इसीलिये 'हमको क्या मिलेगा? क्या नहीं मिलेगा? हमारा संसार कैसे चलेगा? भोजन चलेगा, नहीं चलेगा'–यह सब वे सोचते नहीं हैं। इसीलिये उनके लिये भगवान् कहते हैं कि उनको जिस चीज़ की ज़रूरत होती है उसकी प्राप्ति और जो उनकी चीज़ है उसकी रक्षा करना मेरा काम है।

अप्पय दीक्षितेन्द्र भगवान् शंकर के बड़े भक्त हुये हैं, बड़े विद्वान् हुए हैं। एक बार कांचीवरम के राजा ने उनको बुलाया था सभा में कोई धर्म विचार करने के लिये। प्राचीन काल में अर्थात् अंग्रेजों के समय तक यह पद्धति थी कि कभी कोई धर्म के विषय में शंका होती थी तो धर्म-सभा बुलाई जाती थी। बड़े-बड़े विद्वानों के सामने प्रश्न रखा जाता था कि इस परिस्थिति में क्या धर्म है। वे लोग आपस में विचार करके, शास्त्र-चिन्तन करके, अंत में निर्णय देते थे कि इस परिस्थिति में यह धर्म है। ऐसे ही किसी धर्म-सभा के लिये अप्पय दीक्षित को भी बुलाया गया था। अप्पय दीक्षित की विद्वत्ता इतनी ज़्यादा थी कि कई लोग उनके बड़े विरोधी थे, कुछ लोगों ने उन्हें रास्ते में ही मार डालने की योजना बनायी। किसी ने उन लोगों की उस योजना का पता लगा लिया। उसने आकर अप्पय दीक्षित से कहा 'आज रात में आप मत जाइये।' उन्होंने कहा 'कल की सभा है, आज रात में नहीं जाऊँगा तो पहुँचूँगा कैसे? सबेरे चलकर तो पहुँच नहीं सकता।' तब उसने सारी बात बतलायी कि 'वे सब लोग

खड़े हुये हैं आपको मारने के लिये अतः आपका जाना ठीक नहीं है।' अप्पय दीक्षित हँस पड़े, कहने लगे 'अच्छा! मुझे मारने का इंतज़ाम है! बहुत बढ़िया है, इसमें घबराने की बात क्या है? गर्भ में जब बच्चा आता है, तभी निश्चित हो जाता है कि यह कहाँ, कब और कैसे मरेगा? ये बेचारे कोशिश कर रहे हैं मुझे मारने की, क्योंकि इनको पता नहीं कि गर्भ में आते ही मेरा मरना तो निश्चित है। फालतू बेचारे पाप कर्म करने जा रहे हैं। मुझे तो मरना ही है। और अगर आज नहीं मरना है तो सारी दुनिया इकट्ठी हो जाये, तब भी मुझे मार नहीं सकती!' फ्रांस का एक राजा था नेपोलियन बोनापार्ट। वह युद्ध के मैदान में अपनी फौज के आगे चलता था घोड़े पर बैठ कर। बड़ा फ़र्क पड़ता है, राजा आगे चले तो सेना का उत्साह ही कुछ और होता है! लोगों ने नेपोलियन को समझाया, 'आप आगे जाते हैं कहीं गोली लग जायेगी, ऐसा नहीं करना चाहिये।' नेपोलियन बोनापार्ट ने कहा कि 'वह गोली अब तक ढली नहीं है जो नेपोलियन को मारे; और जिस दिन ढल जायेगी, उस दिन सारी फौज बचा नहीं सकेगी।' यह है विश्वास। अप्पय दीक्षित ने कहा 'जिस दिन गर्भ में आया, उसी दिन निश्चित हो गया। अगर वह दिन आ गया है तो बेचारे व्यर्थ में परिश्रम कर रहे हैं और अगर वह दिन नहीं आया है तो उनका परिश्रम वैसे ही बेकार है, व्यर्थ है, प्रयोजन वाला नहीं है।' चल दिये। जिस रास्ते में थे वहाँ उन लोगों ने सब तैयारी की थी कि आक्रमण करके मारेंगे। पर उन्होंने देखा, दो बड़े भयंकर लोग, हाथ में त्रिशूल लिये हुये दीक्षित की सुरक्षा में जा रहे हैं! उनको देखते ही वे सारे के सारे डर गये, किसी की हमला करने की हिम्मत ही नहीं पड़ी, खुद ही छिप गये। दो दिन बाद दीक्षित-भक्तों ने कहा 'हम लोगों ने उनसे जाकर पूछा, वे सब आये तो थे वहाँ, परन्तु रास्ते में आपने अपने

साथ बड़े भयंकर साथी रख लिये थे। आपने हम लोगों को तो बतलाया नहीं। उनको देखकर वे डर गये, इसीलिये छिप गये।' तब आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र रोने लग गये, 'अरे! मैंने तो किसी को साथ लिया नहीं, लगता है काल भैरव ही मदद करने को आ गये थे।'

अहंभाव का परित्याग करके जिसने दीनभाव ग्रहण कर लिया, उसका तो प्रतिक्षण वही प्रभु है। इसलिये यहाँ आचार्य ने कहा कि यद्यपि आप सब के प्रभु हैं तथापि दीनों के तो आप प्रधानरूप से प्रभु हैं क्योंकि उनका योग-क्षेम आप ही चलाने वाले हैं। गीता में भगवान् ने यह नहीं कहा कि उनका मैं योग-क्षेम पहुँचवा देता हूँ वरन् **'वहामि'** मतलब ढोता हूँ, खुद वहन करता हूँ। अप्पय दीक्षित की भी मदद करने खुद आये। इसी प्रकार एक बार तुलसीदास जी की भी रक्षा करने रामचन्द्र जी खुद आये थे। इसी प्रकार से एक बार नरसी मेहता की मुश्किल थी, उनके लिये भी सारा मायरा भरने का सामान लेकर साँवरिया सेठ खुद आये थे किसी दूसरे के द्वारा नहीं भेजा था क्योंकि गीता में प्रतिज्ञा कर रखी है **'वहामि अहं'** मैं लेकर के खुद आता हूँ, मैं खुद रक्षा करता हूँ। इसीलिये दीनों के वे विशेषकर प्रभु हैं।

'प्रमुख्योहं तेषां' ऐसे दीनों में मैं प्रधान हूँ। दीनों के अन्दर प्रमुख हूँ। क्षणमात्र को भी मेरे अन्दर कर्त्ता-भोक्ता का भाव आता नहीं। मैं दीनों में प्रमुख हूँ और आप दीनों के परम बंधु हैं, **'अनयोः बन्धुत्वं किमुत'** इस प्रकार हम दोनों का बन्धुत्व तो पक्का हो गया, अब यह बन्धन खुल नहीं सकता। इसीलिये मेरे से जितने भी अपराध आज तक हुये हैं, हो रहे हैं और होंगे वे सब आपको ही क्षमा करने हैं **'त्वयैव क्षन्तव्याः'**। अगर मेरे से अपराध बनता है तो इसीलिये कि आप मुझे अपराध करने देते हैं। मुझमें तो कोई अहंता है नहीं। अतः आप को ही मेरे

सकल अपराधों को क्षमा करना है। सकल अर्थात् पहले अज्ञान काल में किये, इसलिये क्षमा करिये; अब मैं अपने को कर्त्ता-भोक्ता समझ ही नहीं रहा हूँ, इसीलिये क्षमा करिये। हम कोई अपराध करेंगे ही नहीं तो आप क्षमा का प्रयत्न कैसे करेंगे? आप क्षमा करने वाले हैं। पर मैं अपराध करूँगा, तभी तो आप क्षमा करेंगे। आप मुझसे अपराध करवाते हैं, कि उस अपराध को आप क्षमा करके लोगों को इस बात को बतलायें कि 'मैं अपराध क्षमा करता हूँ।' अन्यथा, जो अपने को दीन नहीं समझते हैं वे सोचेंगे, सारे कर्मकाण्डी यही सोचते हैं, कि 'अपने-अपने कर्म का फल सब भोगते हैं। परमेश्वर तो सब के लिये एक जैसा है, किसी को माफ थोड़े ही करता है! अपना-अपना कर्म भोगना पड़ता है।' यही कर्मकाण्डी मानते हैं। उन कर्मकाण्डियों को शिक्षा देने के लिये आप पहले तो गलती करवा लेते हैं, फिर उसको क्षमा कर देते हैं। तब कर्मकाण्डियों की समझ में आता है कि 'भगवान् क्षमा कर सकते हैं', इसीलिये '**प्रयत्नात्**' मुझे प्रयत्न कर निरपराध नहीं बनना है, वरन् आपको प्रयत्न करके मुझको निरपराध करना है, क्षमा करके। इस प्रकार मेरा रक्षण करना '**इयं बन्धुसरणिः**'। आपका जो बन्धुभाव है इसका रास्ता यही है कि मैं गलती करूँ और आप माफ करें। मैं जानता हूँ कि मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ आप कड़छी की तरह मेरा प्रयोग कर रहे हैं। शरणगति के पहले रूप का निरूपण किया। इस प्रकार, अपने दीनभाव को पूरी तरह से समझ कर, सर्वथा उनके समर्पित होकर, 'वे ही मेरी रक्षा करने वाले हैं, मेरे अन्दर बैठकर सब कुछ वही करवा रहे हैं' इस निश्चय को रखना है।।१४।।

(१५)

शरण जिसकी ली जाये वह सशक्त होना चाहिये, जिसकी शरण लो वह तुमको बचाने में समर्थ होना चाहिये। अन्यथा, जैसे दलाई लामा ने भारत की शरण ली, नतीजा? तीस साल से लटक रहा है! क्योंकि भारत उसकी रक्षा करने में सशक्त नहीं है। कश्मीर ने अपने को भारत में विलय किया, पचास साल से लटक रहा है, क्योंकि भारत उसकी रक्षा करने में सशक्त नहीं है। अगर महाराजा हरीसिंह ने कश्मीर पाकिस्तान को दिया होता, तब क्या तुम सोचते हो कि हिन्दुस्तान वहाँ इस प्रकार कुछ कर सकता था? शरण उसकी ली जानी चाहिये जो सशक्त हो। जो तुम्हारी रक्षा करने में सामर्थ्य वाला नहीं है, उसकी ली हुई शरण व्यर्थ हो जाती है। अतः परमेश्वर की शरण लेते हैं तो पहले यह निश्चय होना चाहिये कि परमेश्वर सशक्त है, हमारी रक्षा करने में समर्थ है। रक्षा करने में समर्थ वह होता है जो इस बात की अपेक्षा नहीं रखता कि *तुम्हारे* पास क्या शक्ति है, तभी उसको रक्षा करने में सशक्त मानो। तुम्हारी ताकत हो तो जो तुम्हारी रक्षा करे, उसको 'सशक्त' नहीं कहते हैं। वह तुम्हारा मददगार हो सकता है, परन्तु वह शरण लेने लायक नहीं है। तुम्हारी ताकत है, उसने कुछ तुम्हारी मदद की, तब वह सहायक हुआ। परन्तु तुम्हारे में कोई सामर्थ्य की अपेक्षा किये बिना जो तुम्हारी रक्षा कर सके, उसी को सचमुच सशक्त माना जायेगा रक्षा करने में समर्थ माना जायेगा। अतः परमेश्वर की सामर्थ्य का स्मरण करते हुये कहते हैं–

उपेक्षा नो चेत्किं न हरसि भवद्ध्यानविमुखां,
दुराशाभूयिष्ठां विधिलिपिमशक्तो यदि भवान् ।

शिरस्तद्वैधात्रं न नखलु सुवृत्तं पशुपते,
कथं वा निर्यत्नं करनखमुखेनैव लुलितम् ।।१५।।

पशुपते! यदि आप मुझ पर ध्यान न दे रहे हों तो विधि के ऐसे लेख को मिटा क्यों नहीं देते जो मुझे आपके ध्यान से विमुख और दुष्ट आशाओं में बहुतायत से उलझाये है? अगर आप इसमें असमर्थ हैं तो विधाता का वह सुघड़ सिर जो नख से नोचा नहीं जा सकता, बिना यत्न के, हाथ के नखाग्र से आपने काट कैसे डाला!

मैं शरण ले रहा हूँ, परन्तु आप मेरी उपेक्षा कर रहे हैं, आप मेरी तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं, मेरी शरणागति को आप स्वीकार नहीं कर रहे हैं। यह तो ठीक बात नहीं। शरणगत की रक्षा करनी ही चाहिये। भगवान् शंकर ने कहा 'नहीं भाई, मेरी तरफ से तुम्हारी उपेक्षा नहीं है, तुमको कैसे पता कि मैंने उपेक्षा की है?' आचार्य कहते हैं—आपकी उपेक्षा के दो प्रमाण हैं। यहाँ बात समझने की है साधक के लिये। परमेश्वर की कृपा मेरे ऊपर है या नहीं है—इसका पता किससे लगता है? बुद्धिहीन लोग समझते हैं कि रहने का मकान अच्छा हो, खाना-पीना ठीक हो, बाल-बच्चे सब सुखी हों, व्यापार अच्छा चलता हो, बीमारी न हो—ये सब हों तो भगवान् की बड़ी कृपा है। यह भी भगवान् की कृपा है परन्तु *भक्त* इसको कृपा नहीं मानता। जो चीज़ तुम अपने प्रयत्न से प्राप्त कर सको, उसकी प्राप्ति के लिये किसी से याचना करना ठीक नहीं। अपनी सामर्थ्य से जो चीज़ प्राप्त की जा सकती है, उसको तो अपनी सामर्थ्य से ही प्राप्त करना चाहिये। ये सब चीज़ें शुभ कर्म और पुण्य कर्म के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। इस संसार में रहते हुये जिस ढंग से तुम अपना जीवन व्यतीत करते हो, शिष्ट पुरुषों की तरह आचरण करते हो, यह शुभ कर्म है और शास्त्र में जो कर्म बतलाये हैं—यज्ञ,

दान, तप इत्यादि, वे सारे भी शुभ कर्म हैं। जिसका आचरण भी ठीक है और जो यज्ञ, दान, तप, पूजा इत्यादि में लगा रहता है उसको संसार की चीज़ें प्राप्त होती ही हैं, अतः इनकी प्राप्ति के लिये किसी की शरण लेनी पड़े, ऐसा नहीं है।

फिर कौन सी चीज़ है जो बिना शरण के प्राप्त नहीं हो सकती? **'भवद्ध्यानविमुखां'** आपके, शिव के ध्यान से विमुखता—यह हम अपने सामर्थ्य से दूर नहीं कर सकते। क्योंकि परमेश्वर की तरफ ध्यान नहीं देते हैं तभी संसार के सब कामों की तरफ ध्यान जाता है। परमात्मा हृदय के अन्दर है, संसार हृदय के बाहर है। अन्दर को देखोगे, तो बाहर को नहीं देख सकते। बाहर को देखोगे, तो अन्दर को नहीं देख सकते। आपका ध्यान होता तो मैं अन्तर्मुख होता, मैं अन्तर्मुख नहीं हूँ, मैं बहिर्मुख हूँ, बाहर की तरफ देखता हूँ, मेरे में अभी तक अन्तर्मुखता नहीं आयी, अभी भी बाहरी संसार की तरफ ही जा रहा हूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि अभी आपकी कृपा नहीं हुयी। क्योंकि आपकी कृपा का फल है कि बहिर्मुखता हट कर अन्तर्मुखता आती है। यह अन्तर्मुखता अपनी शक्ति से नहीं आ सकती, अपने प्रयत्न से नहीं आ सकती। क्यों नहीं आ सकती? जिस चीज़ का हमने अनुभव किया है उसकी तरफ हमारा प्रयत्न हो सकता है। जो बनाना तुमने सीखा है, या बनते हुए ध्यान से देखा है, वही तुम बना सकते हो। जिसको जिस चीज़ का पहले अनुभव हुआ है वह उसके लिये प्रयत्न कर सकता है। अन्तर्मुखता का, परमात्मा की तरफ जाने का, हमें कोई संस्कार है ही नहीं। यदि हम पहले कभी परमात्मा की तरफ गये होते, उस परमानन्द की झलक मिली होती तब संसार की तरफ हमारी प्रवृत्ति होती ही नहीं! जिस व्यक्ति ने किसी भी बढ़िया चीज़ को खा लिया, उसकी घटिया चीज़ खाने के लिये प्रवृत्ति होती ही नहीं। कई बार घर में होता

है : बढ़िया मटर पनीर बना है, बच्चे चार-चार फुलके खा जायेंगे। और दाल में पालक बनी है, तो एक फुलका खाकर कहेंगे 'पेट भर गया।' क्यों? क्योंकि जो मज़ा मटर पनीर में आयेगा वह मज़ा मूँग की दाल में पालक पड़ा हुआ नहीं देता। चाहे तुम घंटाभर बैठ कर उसको प्रवचन करो कि पालक में क्या-क्या गुण हैं, मूँग की दाल में क्या-क्या गुण हैं, मटर में क्या-क्या खराबियाँ हैं, वह कहेगा 'मैं कब कहता हूँ कि नहीं खाना चाहिये, मुझे आज भूख नहीं है।' अगर तुमको अच्छी चीज़ का स्वाद आ गया हो तब दूसरी चीज़ खाने की इच्छा होती नहीं। इसी प्रकार यदि अन्तर्मुखता के द्वारा परमात्मा का तुमको आनन्द मिल गया हो तो फिर संसार के क्षणिक सुखों की तरफ तुम्हारा मन जा सकता नहीं। किन्तु जा रहा है अतः अन्तर्मुखता आई नहीं। इसलिये आचार्य कहते हैं, चूँकि पहले कभी संस्कार पड़ा नहीं इसलिये मैं उसके लिये प्रयत्न कर कैसे सकता हूँ? अतः यह तो केवल आपकी कृपा से ही संभव है। 'उपेक्षा नो चेत्' यदि आपने उपेक्षा नहीं कर रखी है तो मेरा ध्यान क्यों नहीं जा रहा है?

दूसरा लक्षण बतलाते हैं परमेश्वर की कृपा न होने का : **'दुराशाभूयिष्ठां'**। एक आशा होती है, एक दुराशा होती है। अच्छी चीज़ की तो आशा होती है, बुरी चीज़ की दुराशा होती है। रोज छह बजे बच्चा स्कूल से, कॉलेज से आता है। सात बज गये, अभी आया नहीं। आशावाला यह आशा करता है कि खेल में लग गया होगा, कोई दोस्त उसको अपने घर पकौड़ा खिलाने ले गया होगा। किन्तु, सात बज गये, आया नहीं, कहीं मोटर के नीचे आ गया होगा, कहीं टक्कर खाकर गिर गया होगा—ऐसा भी लोग सोचते हैं, यह है दुराशा। जो बुरी आशा है, बुरी इच्छा है, उसको दुराशा कहते हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति को, परमात्मा की तरफ जाने वाले व्यक्ति को आशा तो होती है, पर

दुराशा नहीं होती। कारण क्या है? परमेश्वर शिवस्वरूप है, कल्याणस्वरूप है, इसीलिये कभी अकल्याण कर ही नहीं सकता। उससे कभी किसी का अकल्याण हो नहीं सकता। जहाँ दीखता भी है, वहाँ अकल्याण नहीं है। फोड़ा हो रहा है, वैद्य उसके ऊपर तूतमलंगा बाँधता है, तो रातभर में फोड़ा तिगुना हो जाता है। लगता क्या है? 'अरे, वैद्यजी तो दुश्मन हैं।' वैद्यजी कहते हैं, 'बेटा, घबरा नहीं, अब फिर एक बाँध देते हैं।' 'क्या होगा, बैठ जायेगा?' 'नहीं भाई, बैठेगा नहीं, और ज़रा बढ़ जायेगा, पर शाम तक फूट जायेगा।' दिन भर बड़ी तकलीफ होती है, पर शाम को फूट जाता है तो एक-दम ठंडा पड़ जाता है क्योंकि फोड़ा ठीक हो गया। लगता यह था कि वैद्य ने तुमसे किसी जन्म की दुश्मनी निकाली, पर ऐसा है क्या? बिना उसको इस प्रकार से पकाये वह फोड़ा फूटता नहीं तो जहर निकलता नहीं। इसी प्रकार कई बार जो हमको बड़े कष्ट की चीज़ लगती है वह उस फोड़े को पकाने की तरह है। शिवस्वरूप परमात्मा कभी भी अकल्याण नहीं कर सकता इसीलिये किसी भी परिस्थिति में हमें कभी दुराशा हो ही नहीं सकती।

सबसे बड़ी दुराशा क्या है? दोष से भरे विषयों के बारे में कि ये हमको प्राप्त हो जाँयें, यह दुराशा है। शास्त्रकारों ने इनका नाम रखा 'विष-य' कि सावधान रहना, ये सब ज़हर हैं। परन्तु इतना साफ नाम रखने पर भी किसी को समझ में नहीं आता कि ज़हर है, बल्कि बड़े अच्छे लगते हैं। एक जहर है पोटाशियम साइनाइट, जिसे खाने के बाद इतनी जल्दी आदमी मर जाता है कि अभी तक कोई उसका स्वाद नहीं बता पाया है। खाते ही मर जाता है तो स्वाद पता कैसे लगे? परन्तु वैज्ञानिक पढ़ाते हैं कि इसका स्वाद मीठा होना चाहिये। क्यों? कहते हैं कि सारे दूसरे बड़े ज़हर मीठे हैं, यह जहर है, तो यह भी मीठा ही होना चाहिये। संसार के विषय लगते बड़े ही

मीठे हैं। स्वाद इनका बड़ा अच्छा है, पर हैं ज़हर। इसीलिये आचार्य शंकर ने कहीं पर कहा है कि विषयों को विष की तरह छोड़ो। जैसे ज़हर से बचते हो, वैसे विषयों से बचो, क्योंकि ये सब दोषवाले हैं।

मेरी जो यह दोष वाले विषयों की आशा है कि मुझे मिलें, यह '**भूयिष्ठ**' है, खूब है। 'भूयान्' का मतलब होता है दो चीज़ों में अधिक और 'भूयिष्ठ' का मतलब होता है सब चीज़ों में अधिक। 'भूयिष्ठ' है अर्थात् बहुत फैली हुई है। यदि आपकी उपेक्षा नहीं होती तो मेरे में दुराशा नहीं, सदाशा होती। परन्तु मेरे में दुराशा कम भी नहीं हुई है, भूयिष्ठ है। इन दो चिह्नों से पता लगता है कि अभी तक आपकी उपेक्षा है, आपकी कृपा नहीं हुई है। साधना की दृष्टि से आचार्य शंकर कहते हैं कि यदि तुम्हारे में दुराशा है, तो जानो कि अभी कृपा नहीं हुई है और यदि परमात्मा की तरफ तुम्हारा ध्यान नहीं खिंचता है तो भी समझो अभी कृपा नहीं हुई है। कहीं ऐसे कर्म का विधान नहीं है जिसे करने से तुमको ये फल हो सकते हैं। ये तो केवल परमेश्वर की कृपा से होते हैं। इनके लिये प्रयत्न तुम कर नहीं सकते क्योंकि तुमको अभी तक अनुभव हुआ नहीं। अपनी तरफ तुम्हारी दृष्टि खिंचे, इसके लिये परमात्मा विषयरूप से तुमको दर्शन देता है। तुमको अभी विषय ही देखने की आदत है अतः विषयरूप से ही उसको देखकर उसकी तरफ आकृष्ट हो जाओ—इसलिये वह अपनी माया शक्ति से विषयरूप से तुम्हारे सामने प्रकट होता है। उस पर ध्यान दोगे तो तुम्हारी दुराशा निवृत्त हो सकेगी। जब नारदजी को भगवान् ने पहली बार दर्शन दिया, तब नारद जी बड़े प्रसन्न हो गये, थोड़े समय के बाद भगवान् लुप्त हो गये। नारद जी बड़े दुःखी हुये, रोने लगे, 'भगवन् मेरी क्या गलती हो गई जो आप लुप्त हो गये?' तब भगवान् ने आकाशवाणी के द्वारा उनको कहा—

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न च मां द्रष्टुमर्हसि।।'

अरे नारद! तुमने जो देखा है वह तो मैंने अपनी माया के द्वारा अपने इस रूप को तुमको दिखा दिया। मैंने अपनी माया तुमको दिखा दी। मैं दीखने वाली चीज़ तो हूँ नहीं, परन्तु अपनी माया शक्ति से तुम्हारे लिये दीखने वाला बन गया। इस तरह शास्त्रों में बताया है कि हम उनके ध्यान के उन्मुख हों इसके लिये वे ही कृपा करते हैं। परन्तु वह कृपा भी आपने अभी मेरे ऊपर की नहीं, इससे लगता है कि आपकी उपेक्षा है।

भगवान् कह सकते हैं : अरे, मुझ पर ऐसा दोष मत लगाओ। विधि ने, ब्रह्माजी ने तेरे भाल के ऊपर लिखा ही यह था कि तू शिव-ध्यान से विमुख रहेगा और बहुतेरी दुराशाएँ करता रहेगा। मेरी तो कृपा है, लेकिन क्या करूँ, तुमने पहले कर्म ही ऐसे कर रखे हैं कि विधि ने, छठे दिन आकर वैसा लिख दिया। उसने जो लिख दिया सो लिख दिया, फिर वह कोई नहीं हटा सकता है। इस पर आचार्य कहते हैं : अरे, महिमा को छिपा कर हमको बेवकूफ बना रहे हैं! 'इसकी रक्षा करनी है'—यदि ऐसी करुणा है, तो आप सशक्त हैं, मेरी रक्षा करने में; मैंने अच्छे कर्म किये हैं या बुरे कर्म किये हैं—इसकी चिन्ता करने की आपको क्या ज़रूरत! मेरे प्रारब्ध में क्या लिखा हुआ है—इसको आप क्यों सोचते हैं? यदि भगवान् कहें कि विधाता की बात माननी पड़ती है, तो आचार्य कहते हैं : मुझे बेवकूफ समझ रखा है आपने? इतना तो बेवकूफ नहीं हूँ। यदि विधिलिपि को मिटाने में आप सामर्थ्यवान् नहीं हैं तो उस विधाता के, ब्रह्माजी के सिर को आपने नोच के कैसे हटा दिया था? ब्रह्मा ने जब ग़लत काम किया तब भगवान् शंकर ने और कोई हथियार नहीं लिया, केवल अपने नखों से ही जैसे तुम लोग जामुन तोड़ते हो, ऐसे तोड़कर हटा

दिया उनका सिर! आप कहना चाह रहे हैं कि विधिलिपि नहीं मिटा सकते, जबकि खुद विधाता के सर को हटा दिया था! मेरे माथे पर तो उसके द्वारा थोड़ा-सा लिखा हुआ ही है। वह जो विधाता का सिर था वह बड़े अच्छे-अच्छे कर्म करके प्राप्त हुआ था। ब्रह्मा का शिर तो अनेक पुण्यों के फल के रूप में उत्पन्न हुआ। वह अत्यन्त सुघड़ है। क्या उसमें यह लिखा हुआ था कि वह नख से नोचा जायेगा? नखों द्वारा जिसको छेदन कर दिया जाये उसे कहते हैं 'नखलु'। क्या उनके शिर के ऊपर लिखा हुआ था कि 'नखलु' है, नखों के द्वारा नोचा जायेगा? ऐसी बात तो थी नहीं, **'ननखलु सुवृत्तं'**। ऐसे उस शिर को नोचने के लिये कोई आपने बड़ा भारी प्रयत्न भी नहीं किया।

फिर मेरे माथे पर लिखा विधाता का लेख मिटाना आपके लिये कौन भार है! एक सज्जन थे विष्णुचरण घोष। शारीरिक बल विकसित करने वाले व्यायामादि वे सिखाते थे। बहुत से विद्यार्थी उन्होंने तैयार किये थे। वह एक बार जापान गये हुये थे। तब उनकी उम्र तो ज़्यादा थी, साठ साल के हो गये थे। उनको वहाँ प्रतियोगिता में निर्णायक बना कर बुलाया गया। वहाँ एक जापानी ने ग्यारह बार उस यंत्र को खींचा जिसमें स्प्रिंग लगे रहते हैं तथा सीना चौड़ा करने में उसे खींचने का विनियोग होता है। कुछ स्प्रिंग हटाकर, एक ही स्प्रिंग रखकर भी उसे खींचना मुश्किल होता है पर उसने सभी स्प्रिंग लगाकर लगातार ग्यारह बार खींच दिया। उसे प्रथम पुरस्कार मिला। उसका शिक्षक जापानी में बड़े उत्साह से कुछ बोला, 'संसार में यह ग्यारह खींचने वाला कोई नहीं है। आज तक किसी ने ग्यारह नहीं खींचे, यह संसार में पहला जापानी है जिसने यह काम किया।' यह सुनकर विष्णुचरण घोष को मन में बुरा लगा क्योंकि वे हिन्दुस्तानी थे। वर्तमान के जो हिन्दुस्तानी अपने को कहते हैं वे सारे-के-सारे

इंगलिस्तानी होते हैं! उनके मन में हिन्दुस्तान के प्रति भावना नहीं है। जब बैठेंगे तो विलायत में क्या-क्या चीज़ें अच्छी हैं—यही बातें करेंगे। हमारे यहाँ भी कुछ अच्छा है—यह बात करने की कभी उनको फुर्सत ही नहीं है। घोष ने सोचा कि ऐसी घमण्डपूर्ण बात सुनकर जाना ठीक नहीं। उन्होंने वह यंत्र अपने पास मँगाया, दो स्प्रिंग और कसवाये और तेरह स्प्रिंगों वाले को बैठे-बैठे ही कई बार खींचते रहे! उसे खींचने वाले तो जवान होते थे, खड़े होकर सावधानी से प्रयास करते थे लेकिन घोष ने बैठे रहकर उस उम्र में भी अनायास अनेक बार खींच दिया तो जापानी शिक्षक हतप्रभ हो गया। उनका अभ्यास इतना ज़्यादा था कि शरीर को तैयार करना, गर्मी लाना, धीरे-धीरे बढ़ाना आदि कुछ प्रयत्न किये बिना प्रतियोगी से भी अधिक स्प्रिंग अधिक बार खींच गये।

इसी प्रकार आचार्य कहते हैं—आपने जब ब्रह्मा का सिर नोचा तो कोई बड़ी-भारी तैयारी करके गये हों सो कुछ नहीं था, **'निर्यत्नं'** बस, खट-से खींच दिया था। अँगुली की नोक से नोचते तो भी कोई बात थी क्योंकि अँगुली की नोक में भी ताकत हुआ करती है, पर खाली नख के अगले भाग से उठाना चाहो, तो लोटा क्या, गिलास भी नहीं उठा सकते हो! आपने अँगुली भी नहीं लगाई, हाथ के नख का जो अगला भाग है बस उसी से नोच लिया अतः **'निर्यत्नं'** बिना कोई प्रयत्न किये **'लुलितम्'** नोचा यह स्पष्ट है। जब लिखने वाले उस विधाता के सिर को ही, जो ऐसे काम के लिये नहीं बनाया गया था, आपने इतनी सरलता से उखाड़ कर फेंक दिया, और आप कहें कि 'अरे क्या करें? तुम्हारे प्रारब्ध में लिखा हुआ है इसलिये तुम्हारी दुराशा भूयिष्ठा हैं', तो क्या मैं मान लूँगा? ये दोनों मुझमें अभी तक हैं, इससे पता लगता है कि अभी आपने ध्यान दिया नहीं, आपको

करुणा आई नहीं। आचार्य जगद्धर भट्ट भी कहते हैं कि दोष मुझमें बहुत हों, परन्तु दोषों का आपने विचार कब किया है!

'दोषाकरस्य शिरसि स्थितिम् उत्तमांग-
च्छेदं विधेः अविरहं नरवाहनस्य।
भस्मीकृतिं त्रिपुरपाशधरस्मराणां
वश्यं दिशां च दशकं दशकन्धरस्य।।' (८-४)

दोषों का खजाना चन्द्रमा है। कितनी बार दक्ष ने समझाया कि 'अरे, अपनी सत्ताईस पत्नियों को एक-जैसा देखो' पर उसने नहीं सुना। अंत में उसको क्षय रोग का शाप लगा। और भी क्या-क्या उसने अनेक दुष्कर्म किये। परन्तु ऐसे दोषों के खजाने को आपने अपने सिर पर धारण कर रखा है। धारण भी किया सिर के ऊपर जटा के भी ऊपर। जटा तपस्या को बतलाती है। तपस्या के हिस्से पर आपने महाभोगी को स्थिर कर रखा है। और विधि का आपने सिर काटा है। **'नरवाहनस्य'** आदमियों पर चढ़ कर जो चलता है उस कुबेर को हमेशा अपने पास रख लिया...सिर काटा। 'नरवाहनस्य'...उस कुबेर को हमेशा अपने... लिया। कुबेर नरवाहन है, मनुष्यों के ऊपर। कुबेर नरवाहन है, मनुष्यों के ऊपर चढ़कर चलता है, क्योंकि बहुत ज़्यादा मोटा है! और **'दशकंधरस्य'** दशग्रीव वाले, दशमुख वाले रावण को आपने दसों दिशाओं का राजा बना दिया! इसलिये दोष वालों को आप नहीं देखते हो, ऐसी बात तो है नहीं। अतः बस, आप मेरी उपेक्षा कर रहे हैं, इसके सिवाय और कोई कारण मुझे नज़र आता नहीं।

क्यों आपकी ओर से उपेक्षा है? गौडपादाचार्य कहते हैं कि जब तक हमारे मन में हेतुफलावेश है, तब तक हमारे लिये हेतु से फलोदय होता रहता है। हमारे मन में कार्य और कारण भाव का मानो भूत चढ़ा हुआ है! मनुष्य का मन ऐसा है कि देश,

काल और कार्य-कारण-भाव के बिना यह सोच नहीं सकता। कोई भी चीज़ अगर है तो मन का पहला प्रश्न होता है 'कहाँ हुई?' फिर होता है 'कब हुई?' फिर होता है 'कैसे हुई?' इन तीन चीज़ों का उसको निश्चय है कि अगर कोई घटना हुई है तो कहीं ज़रूर हुई होगी, कभी-न-कभी ज़रूर हुई होगी और किसी-न-किसी प्रकार से किसी-न-किसी कारण से हुई होगी। यह कार्य-कारण-भाव का जब तक आवेश हमारे अन्दर चढ़ा हुआ है तब तक कारण से उत्पन्न होने वाला कार्य ही हमारे सामने आयेगा। जब हमारे मन से यह आवेश निकल जाता है कि कार्य और कारण नामक कोई सम्बन्ध है, तब हम भगवान् की कृपा को, करुणा को स्वीकार करने की परिस्थिति में पहुँचते हैं। उनकी उपेक्षा इसीलिये है कि हम हेतु-फलावेश के अन्तर्गत उनको लाना चाहते हैं, और करुणा या कृपा कभी हेतु फलावेश में आती नहीं। चूँकि अभी हमारे मन से यह कार्य-कारण भाव छूटा नहीं है, इसीलिये मुझे आपकी उपेक्षा लग रही है, जैसे ही मेरा निश्चय हो जायेगा कि कार्य-कारण-भाव सच्चा नहीं है, सर्वसमर्थ परमेश्वर बिना किसी कारण के ही कृपा करते हैं, वैसे ही आपकी कृपादृष्टि मुझ पर पड़ जायेगी। अतः उपेक्षा का एकमात्र कारण हेतु-फलावेश है। बाकी, कोई कर्म ऐसे नहीं कहे जा सकते जिनके कारण उपेक्षा हो रही है। हम उनकी करुणा को स्वीकार करने को तैयार नहीं, हमारे मन में बैठा रहता है 'कोई कारण होगा तभी करुणा करेंगे।' भक्त में इसीलिये उनकी कृपा को ग्रहण करने के लिये भगवान् के अप्रतिहत स्वातन्त्र्य को स्वीकारने की ज़रूरत यहाँ बतलायी, तभी शरणागति होती है।।१५।।

(१६)

पूर्व श्लोक में दीनता का रूप क्या बतलाया? आत्मचिन्तन में प्रवृत्ति न होना और अनात्मचिन्तन में प्रवृत्ति होना। ये दोनों ही दीनता के लक्षण बतलाये थे **'भवद्ध्यानविमुखां दुराशाभूयिष्ठाम्'**। 'ऐसे दीन मेरी विधाता के लेख को नहीं मिटाने के कारण आप यदि उपेक्षा कर रहे हैं तो जैसे पहले आपने विधाता का सिर नोच लिया था वैसे ही फिर उसका सिर नोच लीजिये!' यह कहने पर आचार्य के मन में आया 'यह मेरी वाज़िब, उपयुक्त कामना नहीं है, यह मैंने ठीक नहीं कहा, ऐसा नहीं सोचना चाहिये। मेरे लिये ब्रह्माजी को दुःख हो, यह तो ठीक नहीं है।' तब विचार किया तो पता लगा कि ब्रह्माजी ने ठीक ही किया–

विरिञ्चिर्दीर्घायुर्भवतु भवता तत्परशिर-
श्चतुष्कं संरक्ष्यं स खलु भुवि दैन्यं लिखितवान्।
विचारः को वा मां विशद कृपया पाति शिव ते
कटाक्षव्यापारः स्वयमपि च दीनावनपरः।।१६।।

हे शिव! ब्रह्माजी चिरायु हों, उनके बचे सिरों की आप रक्षा ही करें क्योंकि उन्होंने संसार में दीनता का लेख लिखा! आपकी कृपा से प्राप्य आपका दृष्टिपात दीनों की ही रक्षा में तत्पर रहता है अतः ब्रह्माजी द्वारा दीन बनाये मेरी रक्षा वह दृष्टिपात खुद ही करेगा, मुझे क्या चिन्ता!

ब्रह्माजी खूब लम्बे समय तक जियें! ब्रह्माजी की उम्र कितनी है? तैंतालीस लाख बीस हज़ार को एक हज़ार से गुणा करो, इतने साल ब्रह्माजी की उम्र है। ब्रह्माजी लम्बी उम्र तक जियें, अपने तैंतालीस अरब साल पूरे करें। इसके द्वारा यह बतला

रहे हैं कि परमेश्वर के भक्त अनेक प्रकार के होते हैं; भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, सभी प्रकार के प्राणी भगवान् शंकर के भक्त होते हैं। इनका आपस में चाहे-जैसा विरोध प्रतीत हो, परन्तु परमेश्वर की भक्ति के विषय में इन सबके अन्दर एकता है। उपाधियों में भेद और उपाधि वाले की एकता–यह वेदान्त का रहस्य है। उपाधियाँ हमेशा अलग रहेंगी। देवदत्त देवदत्त रहेगा, यज्ञदत्त यज्ञदत्त रहेगा, भानुदत्त भानुदत्त रहेगा। इनकी सबकी उपाधियाँ अलग रहेंगी, परन्तु उपाधि वाला शिव उन सबमें एक है। ऐसे समझ लो : तुम्हारी आँख तुम्हारी आँख रहेगी, तुम्हारे कान तुम्हारे कान रहेंगे, तुम्हारी नाक तुम्हारी नाक रहेगी, तुम्हारा हाथ तुम्हारा हाथ रहेगा, तुम्हारी वाणी तुम्हारी वाणी रहेगी; आँख कान नहीं हो सकती, कान नाक नहीं हो सकता, नाक हाथ नहीं हो सकता, हाथ वाणी नहीं हो सकता; ये सब बिलकुल एक-दूसरे से अलग हैं, उपाधियाँ अलग हैं। इन सब उपाधियों वाला मैं तो एक हूँ। आँख वाला जो है, वही कान वाला है, वही नाक वाला है, वही हाथ वाला है। उपहित एक है, उपाधियाँ अलग-अलग हैं। उपाधियों का आपस में झगड़ा भी होता है। कई बार बेजाने होता है; तुम चल रहे हो, तुम्हारे एक पैर का टखना दूसरे पैर के टखने से धड़ाम से ऐसे जोर से भिड़ जाता है, कि एक सैकंड के लिये या पाँच सैकंड के लिये स्तब्ध हो जाते हैं क्योंकि इतनी ज़ोर का दर्द होता है। परन्तु उपाधियाँ ही भिड़ी हैं, उपहित तुम एक ही हो। कई बार लोगों को यह शंका होती है कि एक ही आत्मा है तो फिर राम और रावण का झगड़ा क्यों होता है। राम देवता है, रावण राक्षस है, दोनों का झगड़ा होता है। दोनों में एक ही आत्मा है लेकिन जैसे तुम्हारे दोनों टखनों में तुम एक ही हो, फिर भी टखने भिड़ जाते हैं ऐसे राम-रावण का भिड़ना समझ लो। यह भिड़ना तो बिना जाने है; कई बार जान कर भी भिड़ते हैं–एक हमारे महात्मा हैं, बड़े अच्छे प्रवचन करने वाले हैं, विद्वान् हैं। उनकी ऐसी विचित्र आदत है कि जब

कुछ सोचते हैं तब अपने बाल नोचते रहते हैं। कई बार पढ़ाते-पढ़ाते इतना बड़ा उनके बालों का गुच्छा बन जाता है! टखने भिड़ने की तरह अपने-आप उनके हाथ बालों को नहीं नोचते हैं। हाथ नोचते और बाल नुचते हैं, सिर में दर्द होता है, परन्तु दर्द करने वाला और जिसको दर्द होता है, वह तो एक ही है। दक्षिण में लोग भगवान् की मूर्ति का दर्शन करते हैं तो अपने पापों को क्षमा कराने के लिये, कि 'मैंने गलती की है', दोनों हाथों से अपने गालों को तड़-तड़-तड़ मारते हैं। भगवान् से क्षमा-प्रार्थना कर रहे होते हैं तो हाथ गाल को थप्पड़ मारता है; गाल को ज़रूर बुरा लगता है। मारते जान बूझ कर हैं, परन्तु थप्पड़ मारने वाला और थप्पड़ खाने वाला एक है। इसी प्रकार राम और रावण की उपाधियाँ आपस में लड़ने पर भी उपाधि वाला सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा तो एक ही है, उसमें कहीं भेद नहीं है। उपाधियों में भेद होने से उपहित में भेद नहीं होता।

शिवभक्त उपहित होता है। देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, किन्नर, भूत, प्रेत ये सब उपाधियों वाले रूप हुए। शिवभक्त सामने वाले को शिवभक्त देखता है, उपाधि की अन्य विशेषताओं पर ध्यान नहीं देता। ब्रह्मा भी भगवान् शंकर के भक्त हैं और मैं भी शंकर का भक्त हूँ। मेरे मन में यह आया कि 'ब्रह्माजी ने मेरे भाग्य में ग़लत लिख दिया है तो ब्रह्माजी को ठीक कर दें'; मन में ऐसा आना बुरी बात है। यह मन में आना ही ग़लत है। वे भी शिवभक्त हैं; मैं भी शिवभक्त हूँ, इसीलिये यह जो मैंने पूर्वश्लोक में अपनी भावना कही वह ग़लत थी। अतः कहते हैं **'विरिञ्चिर्दीर्घायुर्भवतु'** ब्रह्माजी अपनी पूर्ण उम्र जियें। मेरी ऐसी भावना भी सकारण है : उन्होंने मेरे भाग्य में दीनता लिखकर ग़लती नहीं की वरन् ठीक किया। मैं तो अभी नया-नया शिवजी का भक्त बना हूँ और ब्रह्माजी सृष्टि के आदि से ही शिवभक्त हैं! इसीलिये उन्होंने जो किया वह बिलकुल शिवभक्त के अनुरूप

काम किया। मैंने नहीं समझा था कि उन्होंने जो मेरे भाग्य के अन्दर दीनता लिख दी यह उन्होंने बड़ा अच्छा किया। क्या अच्छा किया? **'स खलु भुवि दैन्यं लिखितवान्'** उन्होंने यह लिखा कि 'इस भू-लोक के अन्दर, इस पृथ्वी-लोक के अन्दर तू दीन बना रहेगा।' 'दैन्यं' अर्थात् दीनता। उन्होंने बहुत अच्छी बात लिखी है! दीनों के रक्षक भगवान् शंकर मेरी रक्षा करके जब अपने धाम को ले जायेंगे तो फिर वहाँ मेरी दीनता नहीं रहेगी। अगर यहाँ मैं दीन नहीं होता तो वे दीनों के रक्षक हैं, मेरी रक्षा नहीं करते! इसके आगे पता नहीं कितनी योनियों तक मैं शिव से दूर बना रहता! निश्चित रूप से उन्होंने दीनता लिखी यह मेरे हित में काम किया। 'भू-लोक के अन्दर, मनुष्य लोक के अन्दर तू दीन रहेगा' यह उन्होंने लिखा। **'स्वयमपि च दीनावनपरः'** और भगवान् शंकर स्वयं कैसे हैं? दीनों का अवन अर्थात् रक्षण करने में हमेशा परायण हैं, हमेशा लगे रहते हैं। मेरे भाग्य में जो ब्रह्माजी ने दीनता लिखी है वह बड़ी उनकी कृपा है क्योंकि यहाँ मैं दीन रहूँगा तो भगवान् स्वयं मेरा रक्षण करेंगे। दीन के दो रूप बतलाये थे—आत्मचिंतन का न होना और अनात्मचिंतन का होना। **'भवद्ध्यानविमुखां'** शिव के ध्यान से तो विमुख होना अर्थात् आत्मा की तरफ चित्त लगना नहीं और **'दुराशाभूयिष्ठां'** विषयों की जो आशायें हैं उनका खूब होना, विषयों की आशा अर्थात् अनात्मचिंतन। ये ही दीनता के दो रूप हैं। उन्होंने दीनता लिखी इसीलिये मैं आत्मा की तरफ से विमुख तथा अनात्मा की तरफ लगा हुआ हूँ और ऐसे लोगों की रक्षा करने में भगवान् शंकर परायण हैं।

ऐसे लोगों की रक्षा वे क्यों करते हैं? पहले कह आये हैं कि जो अपनी इस दीन परिस्थिति को समझता है—वह खुद क्योंकि रक्षण में प्रवृत्त नहीं होता इसलिये भगवान् ही उसकी रक्षा करते हैं। दीन होकर भी जो समझता है कि 'मैं बड़ा सामर्थ्य

वाला हूँ' उसके रक्षण की तो ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह चाहता नहीं है कि उसका रक्षण किसी अन्य द्वारा हो। वह तो चाहता है कि दीनता बढ़ती रहे! दीनता अर्थात् 'मेरी विषयों की आशा खूब बढ़े, आत्मा के चिन्तन से मैं दूर रहूँ।' दिल्ली में एक करोड़ दस लाख जनता है। उसमें एक करोड़ जनता सारी इसी जाति की है जो मानती है : संसार के विषय हमारे खूब बढ़ते रहें और बेकार का काम, भगवान् की पूजा-वूजा में हम समय बर्बाद नहीं करें। वे कहते भी हैं—'हम तो बस, अपने कर्त्तव्य कर्म में लगे रहते हैं।' 'कर्त्तव्य' कर्म क्या है? पैसा कमाना, दूसरों को ठगना! इसका नाम रखते हैं 'कर्त्तव्य कर रहे हैं।' हमारे एक परिचित सज्जन आकाशवाणी में काम करते थे, बहुत साल पहले की बात है; एक दिन कहने लगे 'महाराज, हम सभी चोर हैं इस देश में।' हमने पूछा 'आप तो चोरी किस चीज़ की कर सकते हैं? आकाशवाणी में नौकरी करते हैं, वहाँ क्या चोरी कर सकते हैं?' कहने लगे 'वहाँ हम पैसे की चोरी तो नहीं कर सकते हैं यह तो ठीक है परन्तु हम सरकार से आठ घण्टे का पैसा लेते हैं और दो घण्टे काम करते हैं, छह घण्टे की चोरी करते हैं। पैसा तो आठ घण्टे का मिलता है, काम दो घण्टे करते हैं तो छह घण्टे की चोरी कर ली न।' इस प्रकार की चोरी को दीनता-पक्षपाती लोग समझते हैं 'यह कर्त्तव्य कर रहे हैं'! इसलिये वे कहते हैं कि भजन-पूजन, मंदिर जाना, सत्संग करना ये सब व्यर्थ है काल को खराब करना है। जीवन में कर्म करना चाहिये। जितना उनके उस प्रकार के कार्यों के द्वारा उनको प्राप्य विषयों की अभिवृद्धि होती है, विषय बढ़ते हैं, उतना और मूँछों पर ताव देकर कहते हैं 'देखो! मैंने यह किया, मैंने वह किया।' हैं वे परमात्मा के ध्यान से विमुख और विषयासक्त परन्तु अपनी इस दीनता को वे नहीं समझते, चाहते हैं यह बढ़ती रहे। परमेश्वर

कल्पवृक्ष हैं अतः वे उनकी दुराशाओं को और ज़्यादा बढ़ने देते हैं, परमात्म-ध्यान से उनको और ज़्यादा विमुख होने देते हैं।

भगवान् रक्षा उसकी करने में प्रवृत्त होते हैं जो यह समझता है कि 'यह मेरी दीनता है।' 'आत्मचिन्तन में नहीं लग पा रहा हूँ, अनात्म-चिन्तन में जा रहा हूँ—ये मेरी दीनता हैं', यों दीनता को समझकर हटाना चाहता है कि 'मैं आत्मचिन्तन में रत हो सकूँ, अनात्मचिन्तन से हट सकूँ', तो भगवान् **'दीनावनपरः'** उसकी उस दीनता को हटा कर, उसके चित्त को अपने में लगाकर, अनात्म-चिन्तन से छुड़ा देते हैं। **'दीनावनपरः'** किसी कारण से नहीं हैं, इसलिये कहा **'स्वयम्'** खुद-ब-खुद दीनों का अवन करते हैं। प्रार्थना करो तो वे तुम्हारी रक्षा करेंगे पर प्रार्थना न करो, तो भी तुम्हारी रक्षा करेंगे, लेकिन इसके लिये तुमको यह बोध होना चाहिये कि 'मैं दीन हूँ'। दीनता का बोध होने से ही तुम्हारा कर्तृत्व का अभिमान, अहंकार दूर होता है। जब तक मन में होता है कि 'मैं कर सकता हूँ', तब तक तुम अपने को दीन समझते नहीं हो, तुम अपने को सामर्थ्य वाला समझते हो और तब तक वे तुमको अपनी सामर्थ्य का प्रयोग करने देते हैं। उनको पता है कि सारी सामर्थ्य को लगाकर अंत में तुमको पता लगेगा कि 'मेरी सामर्थ्य कुछ है नहीं', तभी अहंकार जायेगा। लेकिन यदि तुमको इस दीनता का पता है कि 'मैं दीन हूँ' तो ऐसा नहीं है कि तुम प्रार्थना करो तब वे तुम्हारी रक्षा करें। इसलिये कहा 'आप खुद-ब-खुद दीनों के रक्षण करने वाले हैं।'

ब्रह्माजी ने बड़ा अच्छा किया जो मेरे भाग्य में दीनता लिख दी। क्योंकि मैं अपने को दीन अनुभव कर रहा हूँ अतः आप खुद-ब-खुद मेरी रक्षा करेंगें। ब्रह्माजी ने मुझमें दीनता लिख कर मेरे उपर कृपा की है। वे भी शिवभक्त हैं, मैं भी शिवभक्त हूँ, मेरा उन्होंने उपकार किया है, अपकार नहीं किया है। इसीलिये **'भवता तत्परशिरश्चतुष्कं संरक्ष्यं'** एक सिर निकल जाने पर

बचे हुये उनके चार शिर हैं वे आपके द्वारा रक्षा के योग्य हैं, उनकी आप रक्षा करें, वे लम्बे समय तक चतुर्मुखी बने रहें। **'विचारः को वा'** मुझे कोई विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि मेरी रक्षा होगी कि नहीं होगी। चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं है। जैसे ही हमारा अहंकार छूट जाता है और हमको अपनी दीनता का बोध हो जाता है, उसके बाद और कोई चिंता करने की ज़रूरत नहीं रहती, आगे वे स्वयं ही रक्षा करने वाले हैं। **'विशदकृपया'** उनकी कृपा तो अत्यन्त निर्मल है, अत्यन्त शुद्ध है, मल दोष से अत्यन्त रहित है, अत्यन्त पवित्र है। कृपा के अन्दर विशदता, निर्मलता क्या है? जिस पर कृपा कर रहे हो, उसके बारे में कुछ सोचो कि 'यह कितनी कृपा के योग्य है', तब तो उस कृपा के अन्दर कुछ मल है! कृपा का अर्थ होता है कि जिसमें कोई कारण न हो। किसी कारण से की जाती है तो वह *कृपा* नहीं होती। तुमने हमारा पैर दबाया, हमने तुमको दस रुपये दिये, तो क्या इसको कोई कृपा मान लेगा? आजकल के व्यापारी, उद्योगपति नफे के लिये काम करते हैं, कर-चोरी, मिलावट आदि सब तरीकों से मुनाफा कमाते हैं और कहते हैं 'मैं तो चार सौ आदमियों को भोजन देता हूँ, चार सौ आदमियों का रोजगार लगा रखा है, कृपा कर रहा हूँ, चार सौ आदमियों को काम दिया है।' वे काम करते हैं, तुम उनको तनख्वाह देते हो, इसमें *कृपा* बीच में कहाँ आ गयी! और सरकार तो उससे भी आगे जाती है : राजस्थान में अकाल पड़ा है, अकाल-पीडितों की सहायता होती है। सहायता का मतलब क्या? सरकार का कानून है कि किसी भी आदमी को चालीस रूपये से कम प्रतिदिन नहीं देना। चालीस रूपये से कम में किसी से दिहाड़ी पर काम नहीं करा सकते—यह कानून है। सरकार सड़क बनवाती है, अकाल-पीड़ितो से, उनको ग्यारह रूपये रोज़ देती है, क्योंकि वह *सहायता* कर रही है! काम पूरे आठ घंटे लेती है। चालीस रूपये के काम का ग्यारह रूपये देना यह है सरकारी कृपा। यह सब

हम लोग कृपा नहीं मानते। कोई कारण नहीं है और तुम करते हो, तब कृपा है। इसीलिये 'विशद-कृपया' अर्थात् दूरदराज से भी उसमें कहीं कोई मल, नहीं है। योग्यता का विचार नहीं है, दीन है—बस इतने-मात्र से कृपा करते हैं।

इस कृपा करने में आपको कोई बड़ा भारी परिश्रम करना पड़ता हो, यह भी नहीं है **'कटाक्षव्यापारः'** आप अपनी आँख के कोने से किसी को देख लेते हैं, बस इतने-मात्र से कृपा हो जाती है। शास्त्रकारों ने लिखा है कि आत्मज्ञानी रास्ते से चलते हुये जिस पेड़ या घास के ऊपर अपनी दृष्टि डालता है, उसकी भी सद्गति हो जाती है। दृष्टिपात में ही ऐसी सामर्थ्य है। आँख की अन्य इन्द्रियों से विशेषता क्या है? पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं पर विषय का ग्रहण केवल दो इन्द्रियाँ करती हैं : एक आँख और दूसरी स्पर्श। विषय अर्थात् चीज़, द्रव्य; 'यह क्या चीज़ है' इसका पता तो छूकर लगता है, चीज़ पर चारों तरफ हाथ फेरकर देखो तो पहचान में आ जाती है। अँधेरा हो तो इधर-उधर हाथ रखते हो, जब टॉर्च के ऊपर हाथ पड़ता है तब झट समझ में आ जाता है कि 'यह टॉर्च है'। और आँख से विषय का निर्णय होता है : आँख से दीख गया तो विषय का निर्णय हो जाता है। गंध से कभी भी क्या चीज़ है—इसका पता नहीं लगेगा। गुलाब की गंध आ रही है पर वहाँ गुलाब का अत्तर है, गुलाब का सेंट है, गुलाब के फूल हैं—यह उस गंध से पता नहीं लगेगा। गुलाब की गंध है—यह तो पता लग गया, परन्तु वह गुलाब के अत्तर की है, सेंट की है या फूलों की है—यह नासिका से पता नहीं लग सकता। इसी प्रकार से कान के द्वारा ध्वनि का पता तो लग जायेगा पर चीज़ का नहीं। रात में जब ट्रक निकलता है तो पॉवर हॉर्न बड़े प्रेम से बजाते हैं। रात को ध्यान में रहना चाहिये, **'रात्रौ जागरणं प्रोक्तं'** रात-भर जागरण करके भगवान् का ध्यान करना चाहिये। तुम सो रहे हो, इसीलिये वे बजाते

हैं पॉवर हॉर्न। सुनकर ध्वनि तो पता लगती है लेकिन वह टाटा मर्सडीज का ट्रक है, अशोक लेलेण्ड का ट्रक है या डीसीएम वालों का ट्रक है—यह तो नहीं पता चलता है! विषय का पता अर्थात् क्या चीज़ है—यह तो पता नहीं चलता है, केवल ध्वनि का पता चलता है। विषय का पता स्पर्श से लगता है या चक्षु से लगता है।

स्पर्श के लिये तो तुमको पदार्थ के पास जाना पड़ता है, पदार्थ को जब छूओगे तब चीज़ का पता लगेगा। अगर दूर होगे तो स्पर्श होगा नहीं। पर आँख से विषय का स्पर्श करने के लिये तुम्हें उसके पास नहीं जाना पड़ता। बैठे हुये हमको हेम दिखाई दे रहा है। हम उठकर वहाँ गये नहीं, न उसको उठाकर यहाँ लाये। यहाँ तक कि यहाँ बैठे-बैठे अगर ऊपर छत न हो तो हमको सूर्य-चन्द्रमा भी दिखाई दे जावें। चाहे लाखों मील दूर हो, आँख से विषय ग्रहण होता है कि यह सूर्य है, यह चन्द्र है, ध्रुवतारा है, वशिष्ठ तारा है, अगस्त्य तारा है। कैसे ग्रहण होता है? आँख की वृत्ति वहाँ जाती है और उसके द्वारा हमारा अंतःकरण अर्थात् हमारा मन वहाँ जाकर उस चीज़ के साथ एक होकर उसको ग्रहण करता है। यह प्रक्रिया है। त्वक् और आँख द्वारा उस चीज के साथ हमारे मन का सम्बन्ध होता है। जिस चीज़ के साथ आत्मज्ञानी के मन का सम्बन्ध होगा, उसका कल्याण न हो यह कैसे होगा! वह सम्बन्ध आँख जब वहाँ पड़े तभी होता है। वैष्णव सम्प्रदाय में एक मान्यता है : भगवान् विष्णु की दो पत्नियाँ हैं, एक पृथ्वी है भूदेवी, दूसरी लक्ष्मी है श्रीदेवी। उनके एक तरफ भूदेवी होती हैं, दूसरी तरफ श्रीदेवी होती हैं। भगवान् मान लो श्रीदेवी की तरफ देख रहे हैं, उनकी प्रिय पत्नी हैं। कोई जीव आया और भूदेवी ने विचार किया कि इसका कल्याण होना चाहिये। कल्याण हो कैसे? भूदेवी धीरे से उनके हाथ को छूकर कहती हैं 'ज़रा बात तो सुनो।' वे तो श्रीदेवी

को देख रहे हैं, बात सुनने के लिये भूदेवी की ओर घुमायेंगे चेहरा और तब सामने जो भक्त खड़ा है उस पर उनकी नज़र पड़ जायेगी। इतने से उसका कल्याण हो जायेगा। जब मुँह भूदेवी की तरफ आ गया तो वे उसी को देखते रहेंगे, वह भी उनकी प्रिय पत्नी हैं। कोई दूसरा भक्त आयेगा, श्रीदेवी को लगेगा कि इसका कल्याण होना चाहिये, तब वह कहेंगी 'ज़रा बात तो सुनो।' तो भगवान् फिर उधर से इधर मुँह ले जायेंगे तो वह भक्त बीच में पड़ गया, उसका भी कल्याण हो जायेगा। वस्तुतः भगवान् नारायण तो सच्चिदानन्द साक्षिस्वरूप हैं। उनकी जो शक्ति है वही जीवों का कल्याण करती है, वे स्वयं निर्विकार भाव से रहते हैं।

उनकी निर्विकारता का विचार करते हुये महर्षि वशिष्ठ ने कहा है कि सूर्य की किरणें घास को बढ़ाती हैं, पानी मिलता रहे और घास पर सूर्य की किरणें पड़ती रहें तो घास बढ़ती है। किसी पेड़ की छाया में तुम घास लगाने का प्रयत्न करो तो घास बढ़ेगी नहीं। माली से पूछोगे 'अरे, घास क्यों नहीं बढ़ रही है?' तो कहेगा 'पेड़ की छाया में घास नहीं बढ़ेगी, धूप लगेगी तब घास बढ़ेगी।' सूर्य घास को बढ़ाने वाला है। परन्तु उसी घास के ऊपर तुम उन्नतोदर काँच को ले आओ (कान्वेक्स लेंस ले आओ) और उन्हीं सूर्यकिरणों को तुम उसी घास पर एकाग्र (फोकस) करो। जैसे ही तुम उन किरणों को उस पर केन्द्रित करोगे, उस घास को वे ही सूर्य की किरणें जला देंगी। वह काँच नहीं जला सकता है। काँच जलावे तो रात में भी जला देवे, पर रात में मर्ज़ी आवे जितना उस काँच को रखे रहो, नहीं जला सकता है। अतः जलाने वाली तो सूर्य की किरणें ही हैं, लेकिन बिना काँच के घास को बढ़ाती हैं और काँच के द्वारा जाकर वे ही जलाती हैं। ठीक इसी प्रकार से परब्रह्म परमात्मा सारी सृष्टि को चलाता रहता है अधिष्ठान रूप से। जितनी संसार की प्रवृत्तियाँ हो रही हैं सब हो रही हैं क्यों? ब्रह्म है, तो हो

रही हैं, परमात्मा है तो हो रही हैं। वह इस सारे संसार का पोषक है, परन्तु वही ब्रह्म यदि ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा, इस संसार की तरफ केन्द्रित होता है तो वही जला देता है संसार को। श्रीदेवी और भूदेवी उस परब्रह्म परमात्मा की शक्ति हैं, ब्रह्माकार वृत्ति रूपी शक्ति के द्वारा जीव का रक्षण हो जाता है। अन्यथा ब्रह्म तो एक जैसा है। इसीलिये महर्षि वशिष्ठ कहते हैं **'सूर्यकांतमुपारूढन्यायं सर्वत्र योजयेत्'** जैसे सूर्यकांत मणि में चढ़ा हुआ सूर्य जलाता है उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति में चढ़ा हुआ ब्रह्म जलाता है। श्रीदेवी-भूदेवी के द्वारा प्रवृत्त हुआ भक्त के संसार को जला देता है। बाकी सब समय तो संसार की रक्षा करता ही रहता है। भक्त की वह रक्षा किससे हुई? **'कटाक्षव्यापारः'** उनका कटाक्ष पड़ गया, बस उतने से ही हो गयी। परमेश्वर को हमारी रक्षा करने के लिये कुछ यत्न नहीं करना पड़ता, केवल उनकी नज़र पड़ गयी तो हमारा कल्याण हो गया। शिव दीन का अवन अर्थात् रक्षा करने वाले हैं, यह उनका स्वभाव है। ब्रह्माजी ने मेरे भाग्य में दीनता लिख दी तो बस, अब शिवकी कृपा हो ही गई, मैं उनके कटाक्षव्यापार के द्वारा रक्षित हो गया; नहीं भी हुआ तो शीघ्र ही अनायास हो ही जाऊँगा। मेरी दीनता का अवबोधन कराने वाले बनने के कारण, शिवभक्त होने से ब्रह्माजी मेरे उपकारी हैं, अपकारी नहीं। इसके द्वारा यह बतलाया कि शिवभक्त जो भी करे उसको तुम अपने लिये किसी-न-किसी प्रकार की मदद ही समझना, कभी भी शिवभक्त के प्रति वह तुम्हारी हानि करेगा—यह मन में भाव नहीं लाना चाहिये। यह ब्रह्माजी के दृष्टांत से बता दिया।।१६।।

(१७)

तेरहवें श्लोक में कहा था **'कृपणरक्षातिनिपुणः'** कि भगवान् कृपण की रक्षा में अति निपुण हैं। सोलहवें में **'दीनावनपरः'** दीन की रक्षा करने में लगे रहते हैं। यों कई श्लोकों में दीनता का विचार आया। अपने असामर्थ्य का बोध, 'मैं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हूँ' यह बोध दीनता है। जिसको इस प्रकार का बोध होता है कि 'मैं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हूँ' वही शरण लेता है। जब तक अपने मन में रहता है 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' तब तक हम शरण नहीं ले सकते। भगवान् दीनों की रक्षा करते हैं और कृपणों की भी रक्षा करते हैं। मैं दीन भी हूँ और कृपण भी हूँ।

कृपण किसको कहते हैं? बतलाया है **'यो स्वल्पामपि स्वक्षतीं न क्षमते स कृपणः'** जो अपनी थोड़ी-सी भी हानि को बर्दाश्त न करे, थोड़ा-सा भी नुकसान हो तो बर्दाश्त न करे, उसको कृपण कहते हैं। ऐसा कृपण एक अमेरिका में था जॉन डी राकफेलर। अपने समय का सबसे अधिक धनी व्यक्ति था। ऐसा उसका नियन्त्रण था कि हर घंटे उसको पता लगता था कि उसका धन कितना है, बढ़ा या घटा। सबसे धनी व्यक्ति था, इतना इंतज़ाम करने वाला था, पर कृपण था! अमेरिका के अन्दर एक जगह पाँच बड़ी-बड़ी झीलें हैं। वहाँ उसने पानी के जहाज में अपना माल एक जगह से दूसरी जगह भेजा था। माल तो भेज दिया पर बीमा नहीं करवाया। क्योंकि बीमें में पैसा लगता है। मौसम अच्छा था इसलिये बीमा नहीं कराया था। मौसम का क्या ठिकाना! रात को आठ बजे खबर आई कि उस प्रदेश के अन्दर तूफान उठ रहा है, उसने तुरन्त अपने मैनेजर को बुलाकर कहा 'इसका बीमा नहीं करवाया था?' वह बोला 'नहीं जी, आपने मना कर दिया था', 'तो अब करा जल्दी से।' उसने कहा 'जी, रात

को नौ बज चुके हैं, अब कैसे बीमा हो सकता है?' उसने कहा 'कुछ भी करो, किसी तरह से करो, क्योंकि तूफान आ रहा है, माल डूब जायेगा तो क्या होगा!' मैनेजर ने जाकर किसी तरह से उन लोगों को समझाया, लिया, दिया, कर-कराकर उसने रात में साढ़े दस बजे बीमा करा दिया। सबेरे चार बजे खबर आई कि तूफान आया नहीं। तब छह बजे उसने फिर अपने मैनेजर को बुलाया, 'रात को बीमा तो नहीं हुआ?' वह बोला 'जी, आपने कहा था अतः मैंने बड़ा परिश्रम करके, बहुत हाथ-पैर जोड़ कर करा दिया।' वह सिर पर हाथ ठोककर कहने लगा 'बर्बाद कर दिया मेरे को। तूफान तो आया ही नहीं! तेरे को इतनी भी बुद्धि नहीं है?' इसको कहते हैं कृपण।

वेदान्तियों के यहाँ कृपण किसको कहते हैं? गीताभाष्य की टीका में आचार्य आनन्दगिरि स्वामी बताते हैं कि ऐसा ही कृपण कौन है? जितने संसार की तरफ जाने वाले लोग हैं वे सब महाकृपण हैं। संसार के पदार्थ स्वल्प, क्षणिक हैं। ज़्यादा से ज़्यादा कोई पदार्थ तुम्हारे पास रहेगा तो सौ साल तक, उसके बाद या तुमको जाना पड़ेगा या वह पदार्थ चला जायेगा। अनादि काल से ले कर अनन्त काल की सृष्टि में, सौ साल कुछ हैं क्या? ज़्यादा से ज़्यादा जो नुकसान सौ साल का होगा, उस सौ साल के नुकसान को भी सहन नहीं कर सकते! नियम से भजन इसलिये नहीं करते कि 'प्रातः काल उठकर मैं भजन करने बैठूँगा और कहीं खास टेलीफोन आ गया तो दस करोड़ रूपये का नुकसान हो जायेगा।' अब, दस करोड़ रूपया क्या चीज़ है! उसको महत्त्व देता है, उतनी भी क्षति सहन नहीं करता। इसलिये हमेशा ही ऐसा व्यक्ति जो परम पुरुषार्थ है, जिसके लिये मनुष्य शरीर में आया था, उसको प्राप्त नहीं कर पाता। एक आदमी के पास एक रूपया था। वह किसी जलेबी की दुकान के सामने जाये और फिर वापस आ जाये, फिर जाये फिर वापस आ जाये।

जब चार-पाँच बार ऐसा हुआ तब दूकानदार ने कहा 'तुम फिर-फिर आते हो, जाते हो, बात क्या है?' उसने कहा 'मुझे बड़ी भूख लगी है, जलेबी खाने की इच्छा से आता हूँ। मेरे पास एक रूपया है।' उस ज़माने में एक आने की सेर जलेबी मिलती थी। 'अब अगर जलेबी खाता हूँ तो यह रुपया भुनाना पड़ेगा, पन्द्रह आने ही रह जायेंगे! इतने बढ़िया रुपये को भुनाऊँ तो मैं मर जाऊँ। और नहीं भुनाऊँ, तो क्या खाऊँ? भूख से प्रेरित होता हूँ तो आता हूँ, फिर रुपया भुनाने के डर से वापस जाता हूँ फिर भूख लगती है ज़ोर की, इसीलिये फिर आता हूँ। रुपया बिना भुनाये कोई रास्ता हो तो बता दो।' दुकानदार क्या रास्ता बताये।

यह खाली उसकी ही हालत नहीं समझ लेना : मनुष्य जन्म में आये हैं, चाहते हैं हमको आनन्द मिले और दुःख की निवृत्ति हो। जलेबी खायेंगे तब कुछ तो अपने समय को भुनाना पड़ेगा। रात दिन जो संसार के काम में लगे हुये हैं, उसमें से दो घंटा, चार घंटा समय निकालना पड़ेगा। कहते हैं 'यदि भुनाऊँ तो मैं मर जाऊँ; दो घंटे तक केवल भगवान् का भजन कैसे करूँ? दो घंटे के अन्दर तो मैं लाख रुपया कमा लेता हूँ। दो लाख रुपयों का नुकसान करूँ तो मैं मर जाऊँ।' और 'यदि थोड़ा भी इस प्रकार से भुनाऊँ नहीं, तो कैसे मैं अनन्त आनन्द को पाऊँ और आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति करूँ?' सब लोगों का प्रश्न घूम-फिरकर क्या होता है? महाराज संसार में रहते हुये परमात्मा कैसे मिलें? संसार में रहकर ही परमात्मा मिलना है, और तो कहीं मिलना नहीं। यह तो कोई नहीं कहता है कि जब संसार से परे जाओगे तब परमात्मा मिलेगा। लेकिन संसार से उनका मतलब क्या है? 'संसार की किसी चीज़ का कुछ भी नुकसान बिना हुये'। शाम को सूर्यास्त के समय भगवान् की आरती करनी है। सीधी-सी बात है। ठीक आरती के समय जवाई आ गया। लोग

प्रश्न पूछते हैं 'महाराज, उस समय कोई मेहमान आ जाये, जवाई आ जाये तो क्या करें? आरती करने जायेंगे तो वह बुरा मान जायेगा।' अर्थात् वह बुरा न माने–उतना भी नुकसान न हो, फिर भी परम आनन्द की प्राप्ति हो जाये! इसीलिये आचार्य आनन्द गिरि कहते हैं कि जितने भी इस प्रकार से अनात्मा को पकड़ने वाले हैं वे सब कृपण हैं। ऐसा ही कृपण मैं हूँ अतः मेरी आप रक्षा करें।

यह तो हुई अनात्म-वेत्ताओं की कृपणता; आत्मवेत्ता भी कृपण होता है, उसकी कृपणता को बतलाते हैं–

फलाद्वा पुण्यानां मयि करुणया वा त्वयि विभो,
प्रसन्नेऽपि स्वामिन् भवदमलपादाब्जयुगलम् ।
कथं पश्येयं मां स्थगयति नमःसंभ्रमजुषां,
निलिम्पानां श्रेणिर्निजकनकमाणिक्यमुकुटैः ।।१७।।

हे विभो! स्वामिन्! मेरे पुण्यों से या आपकी कृपा से आप प्रसन्न हों तो भी आपके चरणकमल देखूँ कैसे? आपको प्रणाम करने की शीघ्रता वाले देवसमूह के माणिक्ययुक्त हेममुकुट बीच में आकर मुझे आपके चरण देखने नहीं देते।

आत्मवेत्ताओं की कृपणता क्या होती है? किसी तरह से परमेश्वर हमारे सामने आ गये, हम परमेश्वर के दिव्य स्वरूप के सामने पहुँच गये। कैसे पहुँचे? कुछ पता नहीं लगता है 'फलाद्वा पुण्यानां' अनेक जन्मों तक पुण्य किये होंगे, उनके कारण हो सकता है आपकी प्राप्ति हुई हो। शास्त्रों में परमेश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न होने के कई साधन गिनाये हैं : परमात्मा के प्रति हृदय में प्रेम निसर्गतः भी होता है, नैसर्गिक जिसको कहते हैं। पूर्व जन्मों में हमने बार-बार परमात्मा की आराधना की अतः अब पैदा होने पर हमारी नैसर्गिक ही, स्वाभाविक ही उधर प्रवृत्ति हो

जाती है। घर में चार बच्चे होते हैं, माता-पिता भी एक ही हैं, घर का वातावरण भी एक ही है, फिर भी सबके अन्दर नैसर्गिक भेद होता है; कोई स्वभाव से ही शांत होता है, कोई बात हो तो चुप रहता है, सहन कर लेता है। कोई स्वभाव से ही बड़ा गरम होता है। बिलकुल सहन नहीं कर सकता। वातावरण भी एक ही, माता-पिता एक ही, अतः उस भेद का कारण पूर्व जन्म में किये हुये कर्मों के संस्कार हैं। इसी प्रकार से बहुत-से लोग बचपन से ही परमेश्वर की तरफ प्रवृत्त होते हैं। यह एक तरह का परमात्मप्रेम होता है। कई बार परमात्म-प्रेमियों का संसर्ग होने से, उनके साथ अधिक रहने से मन में प्रवृत्ति हो जाती है। शुरू से नहीं है, लेकिन ऐसे लोगों के संसर्ग में रहने से प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसे भी कई दृष्टांत देखने में आते हैं। तीस साल की उम्र तक कभी शराब नहीं पी, प्याज नहीं खाया। तीस साल के बाद कुछ दोस्त मिल गये, धीरे-धीरे उन दोस्तों का संसर्ग हुआ तो शराब पीने लग गये। अनेक भोजन की चीज़ें ऐसी होती हैं जिनके अन्दर जैसे हम लोग मसाले डालते हैं वैसे विलयात में लोग शराब डालते हैं। जो वैसे व्यंजन खाने लग गया, स्वाद अच्छा आने लग गया तो शराब की आदत हो जाती है। पहले बिना पता के खाया, बाद में पता लग गया तो भी 'इतने दिन से खा ही रहे हैं अतः भ्रष्ट हो ही गये, अब क्यों छोड़ना?' ऐसा सोचकर पीने भी लग जाता है। ऐसे ही दोस्तों के साथ प्याज खाने लग गये, धीरे-धीरे आदत हो गई, फिर वह अच्छा लगने लग जाता है। इसी प्रकार से नैसर्गिक, स्वाभाविक परमात्मा की भक्ति नहीं थी पर ऐसे परमात्म प्रेमियों के साथ रहने का मौका मिल गया तो परमात्मा में भक्ति हो गयी। नैसर्गिक भक्ति को कह दिया **'फलाद्वा पुण्यानाम्'**। गीता में भगवान् ने भी कहा है **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'** बहुत-से जन्मों में जब वह धीरे-धीरे परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति करता है तब अन्तिम जन्म में आकर मेरे वास्तविक स्वरूप को समझकर मेरी

शरण में आता है। परमेश्वर की पूजा इत्यादि कर्म बहुत जल्दी मनुष्य के अन्दर परमात्मा के प्रेम को, भक्ति को जगाते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने बतलाया है–

'सर्वभूतमवं ज्ञात्वा लिङ्गमर्चयते प्रभो।
तस्मिन्नभ्यधिकां प्रीतिं करोती वृषभध्वजः।।'

सारे प्राणी एकमात्र उससे ही उत्पन्न होते हैं, उसमें ही स्थित रहते हैं, अंत में उसमें ही लीन होते हैं–इस प्रकार से परमात्मा के सृष्टि, स्थिति लय करने वाले स्वरूप को समझकर उसके लिंग की पूजा करता है तो उसके प्रति भगवान् वृषभध्वज शंकर की विशेष प्रीति होती है–

'ये भक्ता वरदं देवं शिवं रुद्रम् उमापतिम्।
अनन्यभावेन सदा सर्वेशं समुपासते।
इह लोके सुखं प्राप्य ते यान्ति परमां गतिम्।।'

समग्र कामनाओं को पूर्ण करने वाले भगवती उमा के पति जो रुद्र हैं, अनन्य-भाव से जो उनकी पूजा करता है, इस लोक में भी उसको सुख मिलता है और आगे परम गति, मोक्ष को भी प्राप्त करता है। इस प्रकार परमेश्वर की अर्चना का जो पुण्य है वह साक्षात् परमेश्वर के प्रेम को उत्पन्न कर देता है।

परन्तु भक्त 'दीन' भी है, इसीलिये कहता है : ऐसे कुछ पुण्य मैंने किये हों, यह जँचता नहीं। बड़े-बड़े भक्त हुये हैं। उन्होंने बड़ी-बड़ी अर्चनाएँ की हैं, उनके फलस्वरूप उनके अन्दर आपकी भक्ति आई होगी, परन्तु मैं तो ऐसा करने वाला हूँ नहीं, मैं तो बिलकुल इस तरफ से दीन हूँ, मैंने कभी कुछ किया ऐसा कुछ नहीं लगता। अतः **'मयि करुणया वा त्वयि विभो'** मेरे ऊपर तो आपने करुणा ही कर दी है कि, मेरा मन आपकी तरफ खिंच गया। यहाँ जो दो बातें कह दी हैं, बड़ी ही शास्त्रार्थ का विषय हैं। इन्हें सामान्य मत समझना। अनात्म जगत् में लगा हुआ कोई

भी जीव क्यों परमात्मा की तरफ जायेगा? संसार में हमारा अनुभव तो यही है कि अनात्म पदार्थों से ही दुःख दूर होता है और अनात्म पदार्थों से ही सुख होता है। यही हमारा अनुभव है। शरीर में दर्द हो गया, बुखार हो गया, पेट खराब हो गया, तो दुःख की निवृत्ति किससे होगी? दवाई लेंगे तो दुःख हटेगा। चाहे एलोपेथी लो, होम्योपेथी लो, आयुर्वेदिक लो, कोई-न-कोई अनात्म पदार्थ ही लेना है, उसी से वह हटेगा। दुःख की निवृत्ति अनात्म पदार्थों से ही हमने देखी है। ऐसे ही सुख-प्राप्ति भी अनात्म विषय से ही देखी गयी है। अभीष्ट विषय मिलने पर ही सुख होता है। बासी, आधा कच्चा बाजरे का रोटा चटनी के साथ खाने को मिले, तो उसके बाद क्या कोई कहेगा कि 'आज के आनन्द की जय हो।' अनात्म पदार्थों से ही सुख मिलता दीखता है और अनात्म पदार्थों से ही दुःखनिवृत्ति होती दीखती है। इसीलिये अनात्म पदार्थों की तरफ ही प्रवृत्ति होगी, आत्मा की तरफ प्रवृत्ति क्यों कभी किसी की होगी? अतः किसी तरह से परमात्मा ही हमारे ऊपर करुणा करके हमारे मन में आत्मविषयक विचार को उत्पन्न करता है। उनकी करुणा से ही हमारा आत्मप्रावण्य होता है, बिना परमात्मा की कृपा के नहीं हो सकता।

अगर परमात्मा की कृपा से होता है तो सबका क्यों नहीं होता? परमेश्वर तो सबके ऊपर एक जैसा है। ज़रूर कुछ लोग पुण्य कर्म करते होंगे, शुभ कर्म करते होंगे, तभी उन पर कृपा होती होगी? यह बात भी जँचती है। बिना करुणा के प्रवृत्ति नहीं हो सकती और बिना पूजा इत्यादि किये उनकी कृपा नहीं हो सकती। अतः लगता है कि ये बिलकुल विरोधी चीज़ें हैं। जैसे व्यापार में, जब तक तुम्हारे पास पैसा हो नहीं तब तक व्यापार करके पैसा कमाओ कैसे? और जब तक व्यापार करके पैसा कमाओ नहीं, तब तक तुम्हारे पास पैसा हो कैसे? फिर भी लोग पैसे वाले देखे जाते हैं तो मानना पड़ता है कि किसी अद्भुत

कारण से ऐसा हो जाता है। विचार करने जाओ तो दोनों का आपस में अन्योन्याश्रय है: पैसा हो तो व्यापार करो, व्यापार करो तो पैसा आवे! पैसे वाले देखे जाते हैं। किन्तु निर्णय नहीं हो सकता कि कैसे हुए, लेकिन हैं। इसी प्रकार, परमेश्वर की करुणा हुई तब पुण्य कर्म हुआ, या पुण्य कर्म हुआ तब परमेश्वर की कृपा हुई–इस पर विचार करते हैं तब अन्योन्याश्रय लगता है, परन्तु लोग परमेश्वर की भक्ति वाले देखे जाते हैं, शरण लेने वाले देखे जाते हैं, इसीलिये कहना पड़ेगा कि किसी तरह से होता ज़रूर है। दोनों की अन्योन्याश्रयता बतलाने के लिये कह दिया कि यह तो मुझे निश्चय नहीं है कि पुण्यों के फल से हुआ है या आपकी करुणा से हुआ है। दोनों विकल्पों में जैसे भी हुआ हो, इतना निश्चित है कि आप प्रसन्न हो गये हैं, तभी हमारे सामने प्रकट हुये हैं; आपके दिव्यधाम में हम पहुँचे हुये हैं, आप हमारे सामने हैं।

जब आप प्रसन्न हो गये और हम आपके सामने पहुँच गये, तब तो प्रेम से आपके चरणकमलों का दर्शन कर सकते हैं, परन्तु फिर भी हमारे सामने समस्या है : समग्र मलों से रहित जो आपके चरणकमल हैं उनका मैं दर्शन कैसे करूँ? आप तो सामने आ गये, खुश हो गये, आपके सामने तो मैं पहुँच ही गया, फिर भी आपके चरणकमलों का दर्शन नहीं हो रहा है। अब क्या बात है? आप जहाँ भी रहते हैं वहाँ देवताओं की कतार लगी रहती है, देवाधिदेव परमात्मा के पास तो सभी देवता जायेंगे। देवताओं की पंक्ति लगी हुई है, कतार लगी हुई है। वे सब देवता कैसे हैं? माणिक्य से सजा हुआ उनका चमचम करता हुआ सोने का मुकुट है। दोनों ही चमकदार चीज़ें हैं। एक के बाद एक आकर आपके चरणों में अपना सिर लगाते हैं तो सारा मुकुट चरणों के सामने आ जाता है। उनकी कतार तो एक-के-बाद एक आती रहती है अतः मैं कैसे देखूँ? कोने में भी खड़ा रहकर देखता

लेकिन इतनी चमक होती है कि आँखे चौंधियाती रहती हैं। इसीलिये वहाँ पहुँच कर भी मेरे ऊपर तो फिर आवरण पड़ जाता है! यह मेरी कृपणता है कि बीच में सैकेंड-दो सैंकेड को दिख भी जाता है लेकिन उसके बाद फिर नहीं दिखता है, यह मुझसे अब सहन नहीं होता है। अतः आप कुछ ऐसा उपाय करें कि मैं इससे बच सकूँ।

विचार करो, देवता क्या हैं? पहले भी कई बार बतलाया है, इन्द्रियाँ ही देवता हैं, मन भी एक इन्द्रिय ही है, **'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'** भगवान् ने कहा भी है गीता में। मन और इन्द्रियाँ–ये देवता कैसे हैं? कतार लगाये हुये हैं। मैंने वेद-वाक्यों के द्वारा विचार करके इस बात का पता लगा लिया कि जहाँ कहीं कुछ है वहाँ सर्वत्र आप हैं, सब आपका ही व्यापक स्वरूप है, सारा विश्व सच्चिदानन्द-रूप है। यह सारा विश्व आपका स्वरूप है। आप सामने उपस्थित हैं, परन्तु मेरी इन्द्रियाँ कतार लगाकर कभी रूप देखती हैं, कभी रस देखती हैं, कभी गंध देखती हैं, कभी शब्द देखती हैं, कभी स्पर्श देखती हैं और इस रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श के ज्ञान से आपका जो सच्चिदानंद-रूप है वह ढँकता रहता है। घड़ा है। घड़ा क्या? 'है', सद्‌रूप। परन्तु इन्द्रियों के कारण घड़े से वह 'है' ढँका रहता है। 'है' दीख तो रहा है लेकिन घड़े से ढँका हुआ। इसी प्रकार घड़े का ज्ञान; यहाँ ज्ञान दीख तो रहा है पर घड़े से ढँका हुआ। इसी प्रकार से रसगुल्ले का आनन्द; आनन्द तो परमात्मा का रूप है, परन्तु रसगुल्ले से ढँका हुआ। ये जो इन्द्रियों का रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श है यह आपके चरणों को देखने नहीं देता। इन सारे नाम-रूपों के मल से रहित आपके चरणकमल हैं, सच्चिदानंद-रूप हैं, परन्तु इन्द्रियों के कारण आप दीखते हुये भी मुझे नहीं दीखते हैं। आप ही कृपण-रक्षा में अतिनिपुण हैं अतः आप ही ऐसा उपाय करें कि इन इन्द्रियों से कह दें, थोड़ी देर के लिये ये रुक जायें।

इन्द्रियों के देवताओं को कह दें कि 'काफी समय हो गया, अब थोड़ी देर रुको, बाद में नमस्कार करना।' तब तक मुझे दर्शन हो जाये आपके चरणकमलों का। मुझसे तो ये इन्द्रियाँ रुकनी नहीं हैं, आप ही इनको रोक दें तो काम हो जाये। आप इसमें अतिनिपुण हैं, आप ही ऐसा करें। इस प्रकार जो दो बातें कहीं थी **'दीनावनपरः'**, **'कृपणरक्षातिनिपुणः'** उन दोनों को बतला दिया। इस प्रकार से तरह-तरह से परमेश्वर की प्रार्थना इस स्तोत्र में की है।।१७।।